

गोस्वामी तुलसीदास

लेखक
रामचंद्र शुक्ल



काशी नागरीप्रचारिणी सभा

प्रथम संस्करण	१९८०	दि०
संशोधित द्वितीय संस्करण	१९९०	,,
तृतीय	,, १९९२	,,
चतुर्थ	,, १९९९	,,
पंचम	,, २००३	,,
षष्ठ	,, २००५	,, ३००० प्रतियाँ
सप्तम	,, २००८	,, ५००० ,,

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

मुद्रक : राय आनन्द कृष्ण, शारदा मुद्रण, बनारस

मूल्य १।।।)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
तुलसी की भक्ति-पद्धति	१
प्रकृति और स्वभाव	१३
लोक-धर्म	२१
धर्म और जातीयता का समन्वय	३५
मंगलाशा	३७
लोक-नीति और मर्यादावाद	३८
शील-साधना और भक्ति	५२
ज्ञान और भक्ति, ...	६२
<u>तुलसी की काव्य-पद्धति</u>	६७
तुलसी की भावुकता	७८
शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण	११३
बाह्य-हृदय-चित्रण	११८
<u>अलंकार-विधान</u>	१४७
उक्ति-वैचित्र्य	१६६
भाषा पर अधिकार	१६९
कुछ खटकनेवाली बातें	१७६
हिंदी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान	१७१
परिशिष्ट	
‘मानस’ की धर्म-भूमि	१७६

संशोधित संस्करण

का

वक्तव्य

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में गोस्वामीजी का जीवन-चरित भी गौण रूप में सम्मिलित था। पर जीवनवृत्त-संग्रह इस पुस्तक का उद्देश्य न होने से इस संस्करण से 'जीवन-खंड' निकाल दिया गया है। अब पुस्तक अपने विद्युद्ध आलोचनात्मक रूप में पाठकों के सामने रखी जाती है। जैसा कि प्रथम संस्करण के वक्तव्य में निवेदन किया जा चुका है, इसे गोस्वामीजी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र समझना चाहिए। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो गोस्वामीजी की कृतियों से परिचित और प्रभावित सहृदय-समाज ही कर सकता है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति और काव्य-पद्धति को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिये कुछ प्रकरण और प्रसंग बढ़ा दिये गए हैं। आशा है, इस वर्तमान रूप में यह पुस्तक पाठकों की रुचि के अनुकूल होगी।

रामनवमी
संवत् १९६०

}

रामचंद्र शुक्ल

गोस्वामी

तुलसीदास



तुलसी की भक्ति-पद्धति

हम्मीर के समय में चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिंदी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूणेतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक संचार के लिए वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और बल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाङ्मय ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबुद्दीन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबंध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन भारतीय स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत-संस्कार के नवीन विकास का

ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परंपरा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था^१। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनाता हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परंपरावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोकधर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्य-जनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदासजी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिंदू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी

^१ योरोप में ईसाई धर्म के भक्त उपदेशकों द्वारा ज्ञान विज्ञान की उन्नति के मार्ग में किस प्रकार बाधा पड़ती रही है, यह वहाँ का इतिहास जानने-वाले मात्र जानते हैं।

भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करनेवाली वाणी का विकास भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिंदी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि-काल के कारण हैं, सूर-तुलसी; और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समस्त राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गए, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में श्लग गया। यहाँ तक की सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजनकारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवन-वृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्य वाणी का मंजु घोष घर घर क्या, एक एक हिंदू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं है, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सबसे दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। इस भावना का हिंदू हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन दिन बढ़ता हुआ

अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह 'रावणत्व' की सीमा पर पहुँचेगा और 'रामत्व' का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सबके हृदय और कण्ठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है — संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिए, वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिंदू भक्त अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होता है, महत्त्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलंबन करता है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करता है।

जिस विदेशी परंपरा की भक्ति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके कारण विशुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का स्वरूप बहुत कुछ आच्छन्न हो चला था। गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि किस प्रकार इस बात पर पड़ी यह आगे दिखाया जायगा। भारतीय भक्तिमार्ग और विदेशी भक्ति-मार्ग में जो स्वरूप-भेद है उसका संक्षेप में निरूपण हम यहाँ पर कर देना चाहते हैं।

हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग अलग रहे हैं। ज्ञानमार्ग शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चिंतन-पद्धति का आश्रय लेता है; भक्ति-मार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों

अर्थात् भावों को लेकर चलता है; योग-मार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (एबनार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अंतःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परम्परा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्य-दर्शन का। तत्त्वज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धि-सम्पन्न चिंतनशील दार्शनिक ही माने जाते थे। सूर और तुलसी के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के दर्शन पाये थे^१, पर यह कोई नहीं कहता कि शंकराचार्य और रामानुज भी ज्ञान की जिस सीमा तक नहीं पहुँचे थे उस सीमा तक वे पहुँचे थे। भारतीय पद्धति का भक्त यदि झूठा दावा कर सकता है तो यही कि मैं भगवान् के ही प्रेम में मग्न रहता हूँ; यह नहीं कि जो बात कोई नहीं जानता वह मैं जाने बैठा हूँ। प्रेम के इस झूठे दावे से, इस प्रकार के पाषण्ड से, अज्ञान के अनिष्ट प्रचार की आशंका नहीं।

भारतीय भक्त का प्रेम-मार्ग स्वाभाविक और सीधा है जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चले न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह

अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह ॥

सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता—

१ यह जनश्रुति है कि तुलसीदासजी को चित्रकूट में राम की एक झलक जंगल के बीच में मिली थी। इसका कुछ संकेत सा विनयपत्रिका के इस पद में मिलता है—“तुलसी तो को कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो।”

सूखे मन, सूखे वचन, सूखी सब करतूति ।

तुलसी सूखी सकल विधि रघुवर-प्रेम-प्रसूति ॥

भारतीय परम्परा के भक्त में दुराव, छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती । उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उन्हें कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी बाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती । वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता । बात यह है कि वह अपना प्रेम किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता । उसका उपास्य ज्ञात है । उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों हैं । जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिंतन के लिये छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी का लेकर वह प्रेम में लीन रहता है । तुलसी कहते हैं कि जिसे हम जानेंगे, वही हमें जानेगा—

जाने जानत, जोइए, विनु जाने को जान ?

पर पाश्चात्य दृष्टि में भक्ति-मार्ग 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत ही दिखाई पड़ता है । बात यह है कि पैगंबरी (यहूदी, ईसाई, इस्लाम) मतों में धर्म-व्यवस्था के भीतर तत्त्वचिंतन या ज्ञानकाण्ड के लिये स्थान न होने के कारण आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न, संदेश, छायादर्शन आदि के द्वारा) ही माननी पड़ती थी । पहुँचे हुए भक्तों और संतो (सेट्स) के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा थी कि जब वे आवेश की दशा में मूर्च्छित या बाह्यज्ञानशून्य होते हैं तब भीतर ही भीतर उनका 'ईश्वर के साथ संयोग' होता है और वे छाया रूप में बहुत सी बातें देखते हैं । ईसाई धर्म में जब स्थूल एकेश्वरवाद (जो वास्तव में देववाद ही है) के स्थान पर प्राचीन आर्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सर्ववाद' (पेनथीज़्म) लेने की आवश्यकता हुई तब वह बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के रूप में तो लिया नहीं जा सकता था, ईश्वर द्वारा रहस्यात्मक ढंग से प्रेषित ज्ञान के रूप में ही लिया जा सकता था ।

इससे परमात्मा और जीवात्मा के संबंध की वे ही बातें, जो यूनान या भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गए थे, विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और अस्पष्ट बनाकर संत लोग कहा करते थे। अस्पष्टता और असंबद्धता इसलिये आवश्यक थी कि तथ्यों का साक्षात्कार छाया-रूप में ही माना जाता था। इस प्रकार अरब, फारस तथा योरप में भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का चलन हुआ।

भारत में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृति पद्धति स्वीकृत की थी अतः भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद की कोई आवश्यकता न हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। इसके विकास में बौद्धों ने बहुत कुछ योग दिया था। हठयोग की परंपरा बौद्धों की ही थी। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने उसे शैव रूप दिया। गोरख-पंथ का प्रचार राजपूताने की ओर अधिक हुआ, इसी से उस पंथ के ग्रंथ राजस्थानी भाषा में लिखे गए हैं। मुसलमानी शासन के प्रारंभ काल में इसी पंथ के साधु उत्तरीय भारत में अधिक घूमते दिखाई देते थे जिनकी रहस्यमयी बातें हिंदू और मुसलमान दोनों सुनते थे। मुसलमान अधिकतर खड़ी बोली बोलते थे, इससे इस पंथ के रमते साधु राजस्थानी मिली खड़ी बोली का व्यवहार करने लगे। इस प्रकार एक सामान्य सधुखड़ी भाषा बनी जिसका व्यवहार कबीर, दादू और निरुंगी संतों ने किया।

अरब और फारस का भावात्मक रहस्यवाद लेकर जब सूफी हिंदुस्तान में आए तब उन्हें यही रहस्योन्मुख संप्रदाय मिला। इसी से उन्होंने हठयोग की बातों का बड़ी उत्कंठा के साथ अपने संप्रदाय में समावेश किया। जायसी आदि सूफी कवियों की पुस्तकों में योग और रसायन की बहुत सी बातें बिखरी मिलती हैं। रहस्यवादी सूफियों के प्रेम-तत्त्व के साथ वेदांत के ज्ञानमार्ग की कुछ बातें जोड़कर जो निरुंग-पंथ चला उसमें भी “इला, पिगला, सुषमन नारी” की बराबर चर्चा रही।

सूफियों ने हठयोगियों की जिन बातों को अपने मेल में देखा वे ये थीं—

१—रहस्य की प्रवृत्ति ।

२—ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और हूँदना ।

३—बाहरी पूजा और उपासना का त्याग ।

ये तीनों बातें भारतीय भक्ति-मार्ग से मेल खानेवाली नहीं थीं । जैसा कि ऊपर दिखा आये हैं, भारतीय भक्ति-पद्धति 'रहस्य' की प्रवृत्ति को भक्ति की सच्ची भावना में बाधक समझती है । भारतीय परंपरा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के कोने में नहीं । वह ध्यान भी करता है तो जगत् के बीच अपनी प्रत्यक्ष कला का प्रकाश करते हुए व्यक्त ईश्वर का । तुलसी का वन के बीच राम का दर्शन करना प्रसिद्ध है, हृदय के भीतर नहीं ।

इसी प्रकार भक्ति-भावना में लीन होने पर वह सब कुछ 'राममय' देखता है और अपने से बाहर सब की पूजा करना चाहता है । हठयोगियों की बातें भक्ति की सच्ची भावना में किस प्रकार बाधा पहुँचानेवाली थी इस बात को लोकदर्शी गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि पहचान गई । उनके समय में गोरखपंथी साधु योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती दिखाई पड़ी—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,

निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है ।

“ईश्वर को मन के भीतर हूँदो” इस वाक्य ने भी पाण्ड का बड़ा चौड़ा रास्ता खोला है । जो अपने को ज्ञानी प्रकट करना चाहते हैं वे प्रायः कहा करते हैं कि “ईश्वर को अपने भीतर देखो ।” गोस्वामीजी ललकारकर कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखे, बाहर क्यों न देखें—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी हैं^१ राम जो नाम लिए तें ।

पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें ॥

गोस्वामीजी का पक्ष है कि यदि मनुष्य के छोटे से अंतःकरण के भीतर ईश्वर दिखाई भी पड़े तो भी अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होनेवाला ईश्वर उससे कहीं पूर्ण और कल्याणकारी है । हमारी बद्ध और संकुचित आत्मा केवल द्रष्टा हो सकती है, दृश्य नहीं । अतः यदि परमात्मा को, भगवान् को, देखना है तो उन्हे व्यक्त जगत् के संबंध से देखना चाहिए । इस मध्यस्थ के बिना आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त ही नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि भारतीय भक्ति मार्ग व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों के लिये है । वह लोक या जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता । भक्ति-मार्ग का सिद्धांत है भगवान् को बाहर जगत् में देखना । 'मन के भीतर देखना' यह योग-मार्ग का सिद्धांत है, भक्ति-मार्ग का नहीं । इस बाद को सदा ध्यान में रखना चाहिए ।

(भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है । प्रेम-भाव उसी स्वरूप और उसी गुण-समूह पर टिक सकता है जो दृश्य जगत् में हमें आकर्षित करता है । इसी जगत् के बीच भासित होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलंबन हो सकता है । इस जगत् से सर्वथा असंबद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असंभव है । भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती । वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है ।

बौद्धों की महायान शाखा का एक और अवशिष्ट "अलखिया संप्रदाय" के नाम से उड़ीसा तथा उत्तरीय भारत के अनेक भागों में घूमता दिखाई पड़ता था^१ । यह भी महायान शाखा के बौद्धों के समान अंतःकरण के मन, बुद्धि, विवेक, हेतु और चैतन्य ये पाँच भेद बतलाता था

१ अब भी इस संप्रदाय के साधु दिखाई पड़ते हैं ।

और शून्य का ध्यान करने को कहता था। इस संप्रदाय का “विष्णु-गर्भपुराण” नामक ग्रंथ उड़िया भाषा में है जिसका संपादन प्रो० आर्त्तवल्लभ महंती ने किया है। उन्होंने इसका रचनाकाल १५५० ई० के पहले स्थिर किया है। इस पुस्तक के अनुसार विश्व के चारों ओर ‘अलख’ ही का प्रकाश हो रहा है। अलख ही विष्णु है जिससे निराकार की उत्पत्ति हुई। सारी सृष्टि अलख के गर्भ में रहती है। अलख अज्ञेय है। चारों वेद उसके संबंध में कुछ भी नहीं जानते। अलख से प्रादुर्भूत निराकार तुरीयावस्था में रहता है। और उसी दशा में उससे ज्योति की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टितत्त्व बौद्धों की महायान शाखा का है। ‘अलख’ संप्रदाय के साधु अपने को बड़े भारी रहस्यदर्शी योगी और ‘अलख’ को लखनेवाले प्रकट किया करते थे। ऐसा ही एक साधु गोस्वामीजी के सामने आकर ‘अलख’, ‘अलख’ करने लगा। इस पर उन्होंने उसे इस प्रकार फटकारा—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बोच ॥

तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच ॥

हम अपने साथ जगत् का जो संबंध अनुभव करते हैं उसी के मूल में भगवान् की सत्ता हमें देखनी चाहिए। “जासों सब नातो फुरै” उसी को हमें पहचानना चाहिए। जगत् के साथ हमारे जितने संबंध हैं सब राम के संबंध से हैं—

‘नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।’

माता-पिता जिस स्नेह से हमारा लालन-पालन करते हैं, भाई-बंधु, इष्ट-मित्र जिस स्नेह से हमारा हित करते हैं, उसे राम ही का स्नेह समझना चाहिए।

जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनंत पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर

जितनी से लोक का परिचालन होता है—खिर मुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार-क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चित्त का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है।

गोस्वामीजी पूरे लोकदर्शी थे। लोक-धर्म पर आघात करनेवाली जिन बातों का प्रचार उनके समय में दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी। कबीर आदि द्वारा प्रवर्तित निर्गुण पंथ की लोकधर्म से विमुख करनेवाली बाणों का किस खरेपन के साथ उन्होंने विरोध किया इसका वर्णन 'लोक-धर्म' के अंतर्गत किया जायगा।

भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिये भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौंदर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है। तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे। कहते हैं कि वे एक बार वृंदावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—“आप के राम तो बारह कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?” गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले—“हमारे राम अवतार भी है, यह हमें आज मालूम हुआ।” राम विष्णु के अवतार हैं इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही है। इसी भाव को उन्होंने इस दोहे में व्यजित किया है—

जौ जगदीस तौ अति भलो, जौ महीस तौ भाग ।

तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन-अनुराग ॥

तुलसी को राम का लोक-रंजक रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोक-सुखदायी रूप)

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध है कि शुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं । तुलसी पूर्ण रूप में इसी भारतीय भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे अतः उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिंदुस्तान को अरब या विलायत कहना है । कृष्णभक्ति-शाखा का स्वरूप आगे चलकर अवश्य ऐसा हुआ जिसमें कहीं कहीं रहस्यवाद की गुंजाइश हुई । अपने मूल रूप में भागवत संप्रदाय भी विशुद्ध रहा । श्रीकृष्ण का लोक-रञ्जक और लोक-रंजक रूप गीता में और भागवत पुराण में स्फुरित है । पर धीरे धीरे वह स्वरूप आवृत होता गया और प्रेम का आलंबन मधुर रूप ही शेष रह गया । वल्लभाचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप दृष्टाया । उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने संप्रदाय में आवश्यक ठहराया । लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकांत प्रेम-साधना के रूप में ही रह गई । इतना होने पर भी सूरदास, नंददास आदि महाकवियों ने कृष्ण को इसी जगत् के बीच—वृंदावन में—रखकर देखा । उन्होंने रहस्यवाद का रंग अपनी कविता पर नहीं चढ़ाया ।

सुसलमानी अमलदारी में सूफी पीरो और फकीरो का पूरा दीरदौरा रहा । लोक-संग्रह का भाव लिए रहने के कारण रामभक्ति-शाखा पर तो उनका असर न पड़ा । पर, जैसा कि कह आए हैं, कृष्णभक्ति-शाखा लोक को परे फेंककर व्यक्तिगत एकांत साधना का रंग पकड़ चुकी थी । इससे उसके कई प्रसिद्ध भक्तों पर सूफियों का पूरा प्रभाव पड़ा । चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं । जैसे सूफी कव्वाला गाते गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभुजी की मंडली भी

नाचते नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्य-संक्रमण का एक लक्षण है। इसी प्रकार मीराबाई भी 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली और विरह में व्याकुल रहा करती थी। नागरीदासजी भी इस्क का प्याला पीकर इसी प्रकार भूमा करते थे। यही तक नहीं, माधुर्यभाव की उपासना लेकर कई प्रकार के सखी-संप्रदाय भी चले जिनमें समय समय पर प्रियतम के साथ संयोग हुआ करता है। एक कृष्णोपासक संप्रदाय स्वामी प्राणनाथजी ने चलाया जो न तो द्वारका, वृंदावन आदि तीर्थों को कोई महत्त्व देता है और न मन्दिरों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों का दर्शन करने जाता है। वह इस वृंदावन और इसमें विहार करनेवाले कृष्ण को गोलोक की नित्यलीला की एक छाया मात्र मानता है।

जिस प्रकार मद, प्याला, मूर्च्छा और उन्माद सूफी रहस्यवादियों का एक लक्षण है उसी प्रकार प्रियतम ईश्वर के विरह की बहुत बड़ी-चढ़ी भाषा में व्यंजना करना भी सूफी कवियों की एक रुढ़ि है। यह रुढ़ि भारतीय भक्त कवियों के विनय में न पाई जायगी। भारतीय भक्त तो अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर सर्वत्र भगवान् का नित्य-लीलाक्षेत्र देखता है। उसके लिये विरह कैसा ?

अपनी भक्ति-पद्धति के भीतर गोस्वामीजी ने किस प्रकार शील और सदाचार को भी एक आवश्यक अंग के रूप में लिया है, यह बात 'शील-साधना और भक्ति' के अंतर्गत दिखाई जायगी।

प्रकृति और स्वभाव

हिंदी के राजाश्रित कवि प्रायः अपना और अपने आश्रयदाताओं का कुछ परिचय अपनी पुस्तकों में दे दिया करते थे। पर भक्त कवि इसकी आवश्यकता नहीं समझते थे। तुलसीदासजी ने भी अपना कुछ वृत्तांत

कहीं नहीं लिखा। अपने जीवनवृत्त का जो किञ्चित् आभास उन्होंने कवितावली और विनय-पत्रिका में दिया है वह केवल अपनी दीनता दिखाने के लिये। किसी किसी ग्रंथ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। उनके जीवन वृत्त के संबंध में लोगों की जिज्ञासा यों ही रह जाती है। दूसरे ग्रंथों और कुछ किंवदंतियों से जो कुछ पता चलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। उनके जीवनवृत्त-संबंधी दो ग्रंथ कहे जाते हैं—(१) बाबा बेनीमाधवदास का 'गोसाईं-चरित', (२) रघुबरदासजी का 'तुलसी-चरित'। पहला ग्रंथ—अथवा उसका संक्षिप्त रूप—नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'रामचरित-मानस' के एक संस्करण के साथ छप चुका है। पर उसमें लिखी अधिकतर बातें निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध पड़ती हैं। दूसरा ग्रंथ कहीं पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। हमारी समझ में ये दोनों पुस्तकें गोस्वामीजी के बहुत पीछे श्रुति परंपरा के आधार पर लिखी गई हैं। इनमें सत्य का कुछ अंश मात्र कल्पित बातों के बीच छिपा हुआ माना जा सकता है। अतः गोस्वामीजी की प्रकृति का परिचय प्राप्त करने के लिये हमें उनके वचनों का ही सहारा लेना पड़ता है।

उनकी भक्ति के स्वरूप का जो थोड़ा आभास ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि वह भक्ति केवल व्यक्तिगत एकांत साधना के रूप में नहीं है; व्यवहार-क्षेत्र के भीतर लोक-मंगल की प्रेरणा करनेवाली है। अतः उसमें ऐसे ही उपास्य की भावना हो सकती है जो व्यावहारिक दृष्टि में लोक-रक्षा और लोक-रंजन करता दिखाई पड़े अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो। इसी उच्च की ओर उठकर जब हृदय उमंग से भरता है तब उसमें दिव्यकला का प्रकाश होता है—

उरवी परि कल-हीन होइ, ऊपर कला-प्रधान ।

तुलसी देखु कलाप-गति, साधन बन पहिचान ॥

जब तक मोर की पूँछ के पंख जमीन पर लड़ते चलते हैं तब तक वे कलाहीन रहते हैं पर जब लोक-रक्षक और लोक-रंजक मेघ को देख मयूर

उभंग से भर जाता है और पंख ऊपर उठ जाते हैं तब वे कलापूर्ण होकर जगमगा उठते हैं। जिस उपासना में उपास्य का स्वरूप मेघ के आदर्श तक पहुँचा हुआ न होगा उसके प्रति तुलसी की सहानुभूति न होगी। इस प्रकार उनकी उपासना-संबंधिनी उदारता की एक हद हो जाती है। भूत-प्रेत पूजनेवालों के प्रति उनका यह उदार भाव नहीं था कि जो अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार परोक्ष शक्ति की जिस रूप में भावना कर सकता है उसका उसी रूप में उपासना करना ठीक है—वह उपासना तो करता है। भूत-प्रेत पूजनेवालों की गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसी किसी दुष्कर्म से होती है—

जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूतगन घोर ।

तिन्हकै गति मोहि देउ विधि जो जननी-मत मोर ॥

फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँचती है जिसके जोश में आंगरेज कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को जबरदस्ती खींचकर शैतान की फौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जो दूसरे धर्मों की उपासना-पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को गुनाहों की फिहरिस्त में दर्ज करती है। गोस्वामीजी का विरोध तो इस सिद्धांत पर है कि जो जिसकी उपासना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप रहता है।

जिस भक्ति-पद्धति में लोक-धर्म की उपेक्षा हो, जिसके भीतर समाज के श्रद्धापात्रों के प्रति द्वेष छिपा हो, उसकी निंदा करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है।

‘विश्वास’ के संबंध में भी उनकी प्रायः वही धारणा समझिए जो उपासना के संबंध में है। यदि विश्वास का आलंबन वैसा श्रेष्ठ और सात्त्विक नहीं है तो उसे वे ‘अंध-विश्वास’ मानते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब पाय ।

कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय ॥

तुलसी के ऐसे पहुँचे हुए भक्त के दैन्य और विनय के विषय में तो कहना ही क्या है ! सारी विनय-पत्रिका इन दोनों भावों के अपूर्व उद्गारों से भरी हुई है । 'रामचरित-मानस' ऐसा अमर कीर्ति-स्तंभ खड़ा करते समय भी उनका ध्यान अपनी लघुता पर से न हटा । वे यही कहते रहे—
कवि न होउं नहीं चतुर प्रबोना । सकल कला सब विद्या-हीना ॥
कवित बिबेक एक नहि मोरे) सत्य कहाँ लिखि कागद कोरे ।
वंशक भगत कहाइ राम के । किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महुँ प्रथम रेख जग मोरी । धिग धर्मष्वज धँधरक घोरी ॥
जौ अपने अवगुन सब कहऊँ । बाढ़इ कथा पार नहि लहऊँ ॥

पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'लघुत्व' की यह परमानुभूति परम महत्त्व के साक्षात्कार के कारण थी । अतः लोक-व्यवहार के भीतर उसका कितना श्रंश समा सकता था, इसका विचार भी हमें रखना पड़ता है । दुष्टों और खलों के सामने उसकी उतनी मात्रा नहीं रह सकती थी, जो गोस्वामीजी को उन्हें दुष्ट और खल कहने तथा उनके स्वरूप पर ध्यान देने से रोक देती । साधुओं की वंदना से छुट्टी पाते ही वे खलों को याद करते हैं । उनकी वंदना करके भी वे उनसे अनुग्रह की आशा नहीं रखते, क्योंकि अनुग्रह करना तो उनका स्वभाव ही नहीं—

बायस पालिय अति अनुराग । होहि निरामिष कबहुँ कि कागा ॥

राम के समाने तो उन्हें अपने ऐसा कोई खल ही संसार में नहीं दिखाई देता, उनके सामने तो वे कदापि यह नहीं कह सकते कि क्या मैं उससे भी खल हूँ । यहाँ तो वे "सब पतितों के नायक" बन जाते हैं । पर जब खलों से वास्ता पड़ता है, तब उनके सामने वे अपना लघुत्व-प्रदर्शन नहीं करते; उन्हें कौवा कहते हैं और आप कोयल बनते हैं—

खल-परिहास होहि हित मोरा । काक कहहि कलकंठ कठोरा ॥

जब तक 'साधना' के एकांत क्षेत्र में रहते हैं, तब तक तो वे अपने सात्त्विक भावों को ऊँचे चढ़ाते चले जाते हैं, पर जब व्यवहार-क्षेत्र में

आते हैं, तब उन्हें कम से कम अपने वचनों का सामंजस्य लोक-धर्म के अनुसार संसार की विविध वृत्तियों के साथ करना पड़ता है। पर इससे उनके अन्तःकरण में कुछ भी मलिनता नहीं आती, व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का उदय नहीं होनै पाता। द्वेष उन्हें दुष्कर्म से है, व्यक्ति से नहीं। भारी से भारी खल के सम्बन्ध में भी उनकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती कि अवसर मिलता तो इसकी कुछ हानि करते।

सबसे अधिक चिढ़ उन्हें 'पार्षद' और 'अनधिकार चर्चा' से थी। खलों के साथ समझौता तो वे अपने मन को इस तरह समझाकर कि—

सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलधि अगाधू ॥
बड़ी जल्दी कर लेते हैं, पर 'पार्षदियों' और बिना समझी-बूझी बातें बककर अपने को ज्ञानी प्रकट करनेवालों से उनकी विधि नहीं बैठती थी। उनकी बातें सुनते ही वे चिढ़ जाते थे और कभी कभी फटकार भी देते थे। एक साधु को बार बार 'अलख अलख' कहते सुनकर उनसे न रहा गया। वे बोल उठे—

तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच ।

इस 'नीच' शब्द से ही उनकी चिढ़चिढ़ाहट का अंदाज कर लीजिए। आर्दबरियों और पार्षदियों ने उन्हें कुछ चिढ़चिढ़ा कर दिया था।

इससे प्रकट होता है कि उनके अन्तःकरण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिसकी विपरीतता वे सहन नहीं कर सकते थे। अतः इस थोड़ी सी चिढ़चिढ़ाहट को भी सरलता के अन्तर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शान्त, गम्भीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्ति थे। धर्म और सदाचार को दृढ़ न करनेवाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते थे। उनकी भक्ति वह भक्ति नहीं है जिसे कोई लंपटता या विलासिता का आवरण बना सके।

यद्यपि गोस्वामीजी निरभिमान थे, पर लोभवश या भयवश हीनता प्रकट करने को वे सच्चा 'दैन्य' नहीं समझते थे, आत्म-गौरव का हास समझते थे। राम से याचना करके वे अयाचमान हो चुके थे, अतः—

क्रिपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछु जिनके मुख मोरे।
उनकी प्रशंसा या खुशामद करने वे क्यों जाते ? उनकी प्रशंसा करना वे सरस्वती का गला दबाना समझते थे—

कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥

इस समझ के अनुसार बराबर चले। उन्होंने कही किसी ग्रन्थ में अपने समय के किसी मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है। केवल सच्चे स्नेह के नाते, उत्तम आचरण पर रीझकर, उन्होंने अपने मित्र टोडर के सम्बन्ध में चार दोहे कहे हैं।

भारतभूमि में उत्पन्न होना वे गौरव की बात समझते थे। इस भूमि में और अच्छे कुल में जन्म को वे अच्छे कर्मों के साधन का भगवान् की कृपा से मिला हुआ अच्छा अवसर मानते थे—

(क) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भली लहिकै।

जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै ॥

(ख) दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।

जो पाइ पण्डित परम पद पावत पुरारि मुरारि को ॥

यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।

तेरी कुमति कायर कलपबल्लो चहति बिष-फल फली ॥

गोस्वामीजी लोकदर्शी भक्त थे अतः मर्यादा की भावना उनमें हम बराबर पाते हैं। राम के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुभव करते हुए भी वे उनके सामने अपनी बात कहने अदब कायदे के साथ जाते हैं। 'माधुर्य भाव' की उपासना से उनकी उपासना की मानसिक पद्धति स्पष्ट अलग दिखाई पड़ती है। 'विनय पत्रिका' में वे अपनी ही अवस्था का निवेदन करने बैठे हैं पर वहाँ भी वे लोक-प्रतिनिधि के रूप में दिखाई

पड़ते हैं। वे कलियुगी की अनीति और अत्याचार से रक्षा चाहते हैं जिनसे केवल वे ही नहीं, समस्त लोक पीड़ित है। उनकी मंगलाशा के भीतर जगत् की मंगलाशा छिपी हुई है। वे अपने को लोक से असंबद्ध करके नहीं देखते। उन्हें उनके आराध्य राम किसी एकांत कोने में नहीं मिलते; भरे दरबार में, खुले संसार में मिलते हैं। 'विनय-पत्रिका' रामचंद्रजी के दरबार में गुजरनेवाली अर्जी है जिसकी तहरीर जबरदस्त है। यह अर्जी यों ही बाला बाला नहीं भेज दी जाती है। कायदे के खिलाफ काम करनेवाले—मर्यादा का भंग करनेवाले—आदमी तुलसीदासजी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहबों के पास से होती हुई तब हुजूर में गुजरती है। वहाँ पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं। हनुमान और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं है)। तब लक्ष्मण धीरे से अर्जी पेश करते हैं; और लोग भी जोर दे देते हैं। अंत में महाराजाधिराज ईसकर यह कहते हुए कि “मुझे भी इसकी खबर है”, मंजूरी लिख देते हैं।

कुछ रत्न-पारखियों ने सूर और तुलसी में प्रकृति-भेद दिखाने का प्रयास करते हुए सूर को खरा और स्पष्टवादी तथा तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला कहा है। उन्होंने सूर की स्पष्टवादिता के प्रमाण में ये वाक्य पेश किए हैं—

सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ तें अति ही खोटो ।

सूरदास सर्वस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै ।

उन दोनों पदों पर, जिनमें ये वाक्य आए हैं, जो साहित्य की दृष्टि से थोड़ा भी विचार करेगा वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कल्लटे कृतघ्न। ये वाक्य तो विनोद या परिहास की उक्तियाँ हैं। शृंगाररस में सखियाँ इस प्रकार का परिहास बराबर किया करती हैं।

तुलसी पर लगाया हुआ दूसरा इलजाम, जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वह रह रहकर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम ईश्वर

है। ठीक है; तुलसी ऐसा जरूर करते हैं। पर कहाँ? रामचरित-मानस में। पर रामचरित-मानस तुलसीदास का एकमात्र ग्रंथ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के और भी कई ग्रंथ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है? यदि नहीं, तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरित-मानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण ये हैं—

(१) रामचरित-मानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काक भुशुंडि। श्रोता है पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम मनुष्य तो नहीं है। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं, वह इसी मोह को छुड़ाने के लिये। इसलिये कथा के बीच बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामीजी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरित-मानस एक प्रबंध-काव्य है, जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा-प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी, जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह बात नहीं पाई जाती। जब कि समान शैली की रचना मिलती है, तब मिलान के लिए उसी को लेना चाहिए।

(३) श्रीकृष्ण के लिये 'हरि', 'जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बराबर लाए जाते हैं, इससे चैतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपिणों ने कृष्ण के लिये बराबर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के ये तीन अवयव जन्मसंसार की स्थिति के लिये बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव-जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देश-काल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिये शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिये कोई न कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्मकांड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञानकांड की ओर लोग प्रवृत्त किए गए। कुछ दिनों में फिर कर्मकांड प्रबल पड़ा और यज्ञों में पशुओं का बलिदान धूमधाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्मकांड से बिल्कुल हटाकर अपने ज्ञान वैराग्य-मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म में 'उपासना' का भाव नहीं था, इससे साधारण जनता की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यंत वृद्धि से उत्पन्न विषमता को हटाने के लिये जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें उनके स्थान पर दूसरे अवयव का हृद से बढ़ना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हृद पर पहुँच कर जनता फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हृद पर जा पहुँचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह उलट-फेर, चक्रगति के रूप में, होता चला आ रहा है। जब जन-समाज नई उमंग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी एक हृद से दूसरी हृद पर पहुँचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरे हृद तक जाना पड़ता है। जिन मत-प्रवर्तक महात्माओं को

आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे । किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण में देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिणाम के ही प्रति नहीं रह जाता किंतु उस वस्तु तक पहुँचता है । चिढ़नेवाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अप्रसर होने और अप्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता । इससे नए नए मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शांति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशांति ही होती आई है । धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सके, यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय ।

उपर्युक्त सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नए नए संप्रदायों की खींचतान के कारण आर्यधर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी । जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखनेवालों को बुरा-भला कहता था । शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिए भी अपह जनता को साथ लगानेवाले कई नए नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों का उपहास, वेदात के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है । जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के हास के साथ-साथ शिथिल पड़ गयी थी—कर्म

और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नए पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। उधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी “सतगुरु के प्रसाद” मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिये तैयार बैठे थे। अतः ‘सतगुरु’ भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग भौंफ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। “ब्रह्मज्ञान बिनु नारि-नर कहहि न दूसरि बात।” ऐसे लोगो ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। ‘भक्ति’ के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पंडितों को गालियाँ देते थे और आर्य्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिये कल्याणकर नहीं। जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दलन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जायँ, वह कदापि फल फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।

‘भक्ति’ का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामीजी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेद-विहित कर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य्य-धर्म को द्विन्न-भिन्न होने से बचाया। ऐसे सर्वांगदर्शी लोक-व्यवस्थापक महात्मा के लिये मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र के चरित्र से बढ़कर अवलंब और क्या मिल सकता था! उसी आदर्श चरित्र के भीतर अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के सब रूपों को दिखाकर भक्ति का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करनेवाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति,

सत्त्व, उदारता, प्रजापालन, सत्ता आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्तव्यों के पालन में जो धीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर, अवगुन जल, ताता। मिलाइ रचइ परपंच विधाता ॥

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्पर कर दे, किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे, पर सर्प, दुर्जन और क्रूर संसार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि ये उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्तव्य की, सारे जीवन-प्रयत्न की इतिश्री हो जायगी। यदि एक गाल में चपत मारनेवाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्त्व कैसे दिखाया जायगा? प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग अलग है, तभी तक उसका नाम जगत् या संसार है। अतः ऐसी दुष्टता सदा रहेगी जो सज्जनता के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती, ऐसा अत्याचार सदा रहेगा जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म लोक-धर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिये छोड़ दे, उनके लिये कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की कृति को

जैसे से जैसे ले जा सकती है जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निष्कालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए, उनका पालन अलग अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्याय-पूर्वक अग्रसर होनेवाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा। वहाँ भी समष्टिरूप में जनता के बीच लोक-धर्म ही चलता रहा। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाषाण ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोक-मर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिये वेद-शास्त्र की निंदा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामीजी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोक-विरोधी स्वरूप गोस्वामीजी ने खूब पहचाना। समाज-शास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोक-संग्रह और लोक-विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग के चार विभाग ये हैं—लोक-संग्रही, लोक-बाह्य, अलोकोपयोगी और लोक-विरोधी^१। लोक-संग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबंध को सुखावह और कल्याण-प्रद करने की चेष्टा से रहते हैं। लोक-बाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते;

१ द टू सोशल क्लासेज आर—द सोशल, द नान-सोशल, द सूडो-सोशल, एंड द एंटी-सोशल—‘द प्रिंसिपल अव सोशियलजी’, गिडिंग कृत।

जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोक-विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

अशिष्ट संप्रदायों का औद्धत्य गोस्वामीजी नहीं देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे, जैसा कि गोस्वामीजी के इन वाक्यों से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान बिहोन ॥

धर्म व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करनेवाले नए नए पंथों के प्रति इसी से उन्होंने अपनी चिढ़ कई जगह प्रकट की है; जैसे—

श्रुति सम्मत हरिभक्ति-पथ, संजुत बिरति बिबेक ।

तेहि परिहरहि बिमोह बस कल्पहि पंथ अनेक ॥

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान ।

भगत निरूपहि भगति कलि, निंदहि बेद पुरान ॥

उत्तरकांड में कालि के व्यवहारों का वर्णन करते हुए वे इस प्रसंग में कहते हैं—

बादहि शूद्र द्विजन सन हम तुममें कहु घाटि ।

जानहि ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि दिखावहि डाँटि ॥

जो बातें ज्ञानियों के चित्तन के लिये थीं, उन्हें अपरिपक्व रूप में अनधिकारियों के आगे रखने से लोक-धर्म का तिरस्कार अनिवार्य था। 'शूद्र' शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है; विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है। समाज में मूर्खता का प्रचार, बल और पौरुष का हास, अशिष्टता की वृद्धि, प्रतिष्ठित आदर्शों की उपेक्षा

कोई विचारवान् नहीं सहन कर सकता। गोस्वामीजी सच्चे भक्त थे। भक्ति-मार्ग की यह दुर्दशा वे कब देख सकते थे? लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिये, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खड़े करने के लिये, उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उसपर मुग्ध हुए। “कलिकलुष-विभंजिनी” राम कथा घर घर धूमधाम से फैली। हिंदू धर्म में नई शक्ति का संचार हुआ। “स्रुति-सम्मत हरिभक्ति” की ओर जनता फिर से आकर्षित हुई। रामचरितमानस के प्रसाद से उत्तर भारत में सांप्रदायिकता का वह उच्छृंखल रूप अधिक न ठहरने पाया जिसने गुजरात आदि में वर्ग के वर्ग को वैदिक संस्कारों से एकदम विमुख कर दिया था, दक्षिण में शैवों और वैष्णवों का घोर द्वंद्व खड़ा किया था। यहाँ की किसी प्राचीन पुरी में शिवकाची और विष्णुकांची के समान दो अलग २ बस्तियाँ होने की नौबत नहीं आई। यहाँ शैवों और वैष्णवों में मार-पीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसाद से? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रसाद से। उनकी शांति-प्रदायिनी मनोहर वाणी के प्रभाव से जो सामंजस्य-बुद्धि जनता में आई, वह अब तक बनी है और जब तक रामचरितमानस का पठन-पाठन रहेगा, तब तक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस में स्थान स्थान पर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के गरुडशखंड में शिव हरिमंत्र के जापक कहे गए हैं। उसके अनुसार उन्होंने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामीजी ने दोनों का महत्त्व प्रतिपादित किया। राम के मुखारविंद से उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—

शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै ॥

वे कहते हैं कि “शंकर-प्रिय, मम द्रोही, शिवद्रोही, मम दास” मुझे पसंद नहीं।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न भिन्न उपास्य देवों के कारण जो भेद दिखाई पड़ते थे, उनका भी एक में पर्यवसान किया। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिंदू समाज की रक्षा के लिये—उसके स्वरूप को रखने के लिये—कितने महत्त्व का था !

तुलसीदासजी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे, पर लोकरीति के अनुसार अपने ग्रंथों में गणेशवन्दना पहले करके तब वे आगे चले हैं। सूरदासजी ने “हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ” से ही ग्रंथ का आरंभ किया है। तुलसीदासजी की अनन्यता सूरदास से कम नहीं थी, पर लोक-मर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी। सूरदासजी की भक्ति में लोक-संग्रह का भाव न था। पर हमारे गोस्वामी जी का भाव अत्यंत व्यापक था—वह मानव-जीवन के सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिये मानो राम ने रावण का असत् रूप खड़ा किया। ‘मानस’ के आरंभ में सिद्धांतकथन के समय तो वे “सियाराम-मय सब जग जानी” सबको “सप्रेम प्रणाम” करते हैं, पर आगे व्यवहार-क्षेत्र में चलकर वे रावण के प्रति ‘शठ’ आदि बुरे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ साथ मनुष्य-जाति आदिम काल से ही आत्म-रक्षा के लिये परोक्ष शक्तियों की उपासना करती आई है। इन शक्तियों की भावना वह अपनी परिस्थिति के अनुरूप ही करती रही। दुःखों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुःखों का आना न आना बिल्कुल अपने हाथ में नहीं है,

यह देखते ही मनुष्य ने उनकी कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अतः बलिदान आदि द्वारा उन्हें शांत और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदिम उपासना का मूल या 'भय'। जिन देवताओं की उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे 'अनिष्टदेव' थे। आगे चलकर जब परिस्थिति ने दुःख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकांक्षा का अवकाश दिया, तब साथ ही देवों के सुख-समृद्धि-विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओं को हम इसी रूप में पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धनधान्य, ऐश्वर्य, विजय सब कुछ देते थे; पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। वज्र के गोपी ने जब इंद्र की पूजा बंद कर दी थी, तब इंद्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति मामनी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड़ गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोक-धर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी; पर उनका संबंध प्रचलित देवताओं के साथ नहीं स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले, अधर्म और दुःशीलता पर कोप करनेवाले नहीं हुए थे; वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा में त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञानमार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था, पर वह ब्रह्म लोक-व्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नहीं था। धीरे धीरे उसके व्यावहारिक रूप, सगुण रूप, की तीन रूपों में प्रतिष्ठा हुई—लप्टा, पालक और संहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपों की अभिव्यक्ति पर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने बट दया, दाक्षिण्य, क्षमा, उदारता, वत्सलता, सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोक-पालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में

‘इष्टदेव’ की प्रतिष्ठा हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जनसमाज आशा और आनन्द से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिये बार बार आते हुए साक्षात् दिखाई पड़े। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमें देखें वही ‘इष्टदेव’ है—हमारे लिये वही सबसे बड़ा है—

तुलसी जप तप नेम ब्रत सब सबही तैं होइ ।

लहै बड़ाई देवता ‘इष्टदेव’ जब होइ ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अंतर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोक-मर्यादा-पालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे रूखे ढंग से ‘उपासना’ कहते हैं, उसी ने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम-परिपुष्ट होकर ‘भक्ति’ का रूप धारण किया है। व्यष्टिरूप में प्रत्येक मनुष्य के और समष्टिरूप में मनुष्य-जाति के सारे प्रयत्नों का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अतः ईश्वरत्व के तीन रूपों में स्थिति-विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुँच सकी। या यो कहिए कि भक्ति की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवों में ही हुआ।

तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्र तत्त्वदर्शा आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे; जो अपने उपदेशों में दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगों के लिए अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों,

कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है; अतः ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अतः उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष न रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते पुरजे का आदमी ऐसे लोगों को संग में लगाकर 'प्रवर्त्तक', 'अगुआ', 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखनेवाले दो-चार होंगे तो ऐसे लोग पचीस। किसी समुदाय के मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्त्तक' बनने का हौसला रखनेवाले समाज के शत्रु हैं। योरप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा संघ-निर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत जल्दी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। योरप में जितने लोक-विप्लव हुए हैं, जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है, सबमें जनता के वास्तविक दुःख और क्लेश का भाग यदि $\frac{1}{3}$ था तो विशेष जन-समुदाय की नीच प्रवृत्तियों का भाग $\frac{2}{3}$ । 'क्रांतिकारक', 'प्रवर्त्तक' आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है। इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज झिन्न-भिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए; एक मेम साहब पति-पत्नी के संबंध पर व्याख्यान देती फिरती थी कि कोई आवश्यकता नहीं कि स्त्री पति के घर में ही रहे।

भक्त कहलाने वाले एक विशेष समुदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ़ रहा था, उस समय भक्ति-मार्ग के भीतर ही एक ऐसी सार्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रकाश में लोक-धर्म के झिन्न-भिन्न होते हुए अंग भक्ति-सूत्र के द्वारा ही फिर से जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा बंगदेश में, अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के द्वारा उत्तर भारत में

प्रेम की जो धारा बही, उसने पंथवालों की परब बचनावली से सूखते हुए हृदयों को आर्द्र तो किया, पर वह आर्य-शास्त्रानुमोदित लोक-धर्म के माधुर्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया। हिंदू समाज में फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से चढ़ने न पाया। हिंदू-जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास को भुलाने, कई सहस्र वर्षों के संचित ज्ञानमंडार से वंचित रहने, अपने प्रातःस्मरणीय आर्दश पुरुषों के आलोक से दूर पड़ने से बच गई। उसमें यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्तव्यों से विमुख, कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देने वाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रणक्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखानेवाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलानेवाले, प्रभूत शक्ति-संपन्न होकर भी झुमा करनेवाले अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरजन करनेवाले, मैत्री का निर्वाह करनेवाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले, बड़ों की आज्ञा का आदर करनेवाले, संपत्ति में नम्र रहनेवाले, विपत्ति में धैर्य रखनेवाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं, यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलंबन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेंढ़ी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान् के लोक-संग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान् की लोक-धर्म स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। अधर्म और अन्याय से संलग्न वैभव और समृद्धि का जो विच्छेद उन्होंने कौरवों के विनाश द्वारा कराया, लोक-धर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने सँभाला, शिशुपाल के प्रसंग में क्षमा और दंड की जो मर्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार ध्वस्त न होनेवाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की

जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जराईध-वध द्वारा की, उसका सौंदर्य जनता के हृदय में अंकित नहीं किया गया । इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच-कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ ।

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहाँ कर्ममार्गी गृहस्थों के लिये लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है । यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्याय-संगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है । किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी । लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता । भारतीय जन-समाज में लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता ।

रामचरित के सौंदर्य द्वारा तुलसीदासजी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ । वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ । दक्षिण में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया । पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ । हिंदू-जनता शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह को रामकृष्ण के रूप में और औरंगजेब को रावण और कंस के रूप में देखने लगी । जहाँ लोक ने किसी को रावण और कंस के रूप में देखा कि भगवान् के अवतार को संभावना हुई ।

गोस्वामीजी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य से ज्ञान, वैराग्य का भी निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सबसे अधिक

लक्ष्मण गृहस्थों के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति में उन्हें पुकारकर कुछ कहते हुए पाते हैं और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अंतर्गत है, उसके बाहर नहीं। मान-अपमान से परे रहनेवाले संतों के लिये तो वे "खल के बचन संत सह जैसे" कहते हैं, पर साधारण गृहस्थों के लिये सहिष्णुता की मर्यादा बाँधते हुए कहते हैं कि "कतहुँ सुधाइहु तैं बड़ दोषू"। साधक और संसारी दोनों के मार्गों की ओर वे संकेत करते हैं। व्यक्तिगत सफलता के लिये जिसे 'नीति' कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है।

सारांश यह कि गोस्वामीजी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के भक्त जो प्रेम में मग्न होकर संसार को भूल रहे थे, दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शों के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे, और तीसरे वे जो हठयोग^१, रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियों की व्यर्थ आशा का प्रचार कर रहे थे। इन तीनों वर्गों के द्वारा साधारण जनता के लोक-धर्म पर आक्रुद्ध होने की संभावना कितनी दूर थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आज जो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के "भायप भाव" पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामीजी के ही प्रसाद से। धन्य है गार्हस्थ्य-जीवन में धर्मालोक-स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर घर पहुँचानेवाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमें नई शक्ति का संचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता, वह भी यह जानता है कि—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारो । तिनहिं बिलोकत पातक भारो ॥

१ गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,

निगम नियोग ते, सो कैलि ही छरो सो है ।—कवितावली

झियाँ और कोई धर्म जानें, या न जानें, पर वे वह धर्म जानती हैं जिससे संसार चलता है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

**बुद्ध, रोग-वस, जड़, धनहीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥**

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं; उस भार को उतारनेवाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुम्भकर्ण की नहीं। गोस्वामीजी ने "रामचरित-चितामणि" को छोटे-बड़े सबके बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू-समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ संमिश्रित करके बाबाजी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रुति न जान पड़े, आनन्द और उत्साह के साथ लोग आप से आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धरपकड़ और जबरदस्ती से नहीं। जिस धर्म-मार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है, वह चरित्र-सौंदर्य के साक्षात्कार से आनन्दमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते चलते चौड़ी होकर वह सीधा राजमार्ग हो सकती है; जिसके संबंध में गोस्वामीजी कहते हैं—

“गुरु कछो राम-भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो”

धर्म और जातीयता का समन्वय

गोस्वामीजी द्वारा प्रस्तुत नवरत्नों का रामरसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिंदू-जाति विदेशीय मतों के आक्रमणों से भी बहुत कुछ रक्षित रही और अपने जातीय स्वरूप को भी दृढ़ता से पकड़े रही। उसके

भगवान् जीवन की प्रत्येक स्थिति में—खेलने-कूदने में, हँसने-रौने में, खड़ने-भिड़ने में, नाचने-गाने में, बालकों की क्रीड़ा में, दाम्पत्य प्रेम में, राज्य-संचालन में, आज्ञापालन में, आनन्दोत्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, सम्पत्ति में, विपत्ति में—उसे दिखाई पड़ते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरो पर तुलसी-रचित राम के मंगल-गीत गाए जाते हैं, विमाताओं की कुटिलता के प्रसंग में कैकेयी की कहानी कही जाती है, दुःख के दिनों में राम का वनवास-स्मरण किया जाता है, वीरता के प्रसंग में उनके धनुष की भीषण टंकार सुनाई पड़ती है; सारांश यह कि सारा हिंदू-जीवन राममय प्रतीत होता है। वेदात का परमार्थ तत्त्व समझने की सामर्थ्य न रखनेवाले साधारण लोगो को भी व्यवहारक्षेत्र में चारों ओर राम ही राम दिखाई देते हैं। इस प्रकार राम के स्वरूप का सामंजस्य हिंदू-हृदय के साथ कर दिया गया है। इस साहचर्य से राम के प्रति जो भाव साधारण जनता में प्रतिष्ठित हो गया है उसका लावण्य उसके संपूर्ण जीवन का लावण्य हो गया है। राम के बिना हिंदू-जीवन नीरस है—फोका है। यही रामरस उसका स्वाद बनाए रहा और बनाए रहेगा। राम ही का मुँह देख हिंदू जनता का इतना बड़ा भाग अपने धर्म और जाति के घेरे में पड़ा रहा। न उसे तलवार हटा सकी, न धन-मान का लोभ, न उपदेशों की तड़क-भड़क। जिन राम को जनता जीवन की प्रत्येक स्थिति में देखती आई, उन्हें छोड़ना अपने प्रिय से प्रिय परिजन को छोड़ने से कम कष्टकर न था। विदेशी कच्चा रंग एक चढ़ा एक छूटा, पर भीतर जो पक्का रंग था वह बना रहा। हमने चौड़ी मोहरी का पायजामा पहना, 'आदाब अर्ज' किया, पर 'राम राम' न छोड़ा। अब कोट-पतलून पहनकर बाहर 'डेम नान्सैस' कहते हैं पर घर में आते ही फिर वही 'राम राम'। शरीर-फरहाद और हातिमताई के किस्से के सामने कर्ण, युधिष्ठिर, नल, दमयंती सबको भूल गए थे, पर राम-वर्चा कुछ करते रहे। कहना न होना कि इस एक को न छोड़ने से एक प्रकार से सब कुछ बना रहा;

क्योंकि इसी एक नाम में हिंदू-जीवन का सारा सार खींचकर रख दिया गया था। इसी एक नाम के अवलंब से हिंदू-जाति के लिये अपने प्राचीन स्वरूप, अपने प्राचीन गौरव के स्मरण की संभावना बनी रही। रामनामाश्रुत पान करके हिंदू जाति अमर हो गई। इस अमृत को घर घर पहुँचानेवाला भी अमर है। आज जो हम बहुत से, 'भारतीय हृदयों' को चीरकर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं। पर एक इसी कविकेसरी को भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीति की रक्षा के लिये सबके हृदय-द्वार पर अबा देख हम निराश होने से बच जाते हैं।

मंगलाशा

शुद्ध आत्म-पक्ष के विचार से दुःखवाद स्वीकार करते हुए भी, साधकों के लिये ज्ञान द्वारा उस दुःख की निवृत्ति मानते हुए भी, वे लोक के कल्याण के पूरे प्रयासी थे। लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानंद' का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनंद' का प्रतीक है 'रामराज्य' जिसमें उस मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदासजी ने प्रकट किया है। इस व्यवधान-काल का निरीक्षण लोक की वर्तमान दशा के रूप में वे अत्यंत भय और आकुलता के साथ इस प्रकार करते हैं—

प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव-मई है।
तिन्हकी मति, रिस, राग, मोह, मद लोभ लालची लीलि कई है ॥

राज-समाज कुसाज, कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है ।
 नीतिप्रतीति प्रीति-परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥
 आश्रम-वरन-धरम-विरहित जग, लोक-वेद मरजाद गई है ।
 प्रजा पतित पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥
 सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-फलई है ।
 सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥

पर इस भीषण दृश्य से गोस्वामीजी निराश नहीं होते । सच्चे भक्त के हृदय में नैराश्य कहाँ ? जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्म-स्वरूप भगवान् की अनंत करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास नहीं फटक सकता । अतः गोस्वामीजी रामराज्य स्थापन करने के लिये राम से बिनती करते हैं ।

“दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद-मंगल-रितई है ।”

प्रार्थना के साथ ही अपने विश्वास के बल पर वे मान लेते हैं कि प्रार्थना सुन ली गई, ‘रामराज्य’ हो गया, लोक में फिर मंगल छा गया—

मरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवनि चितई है ।
 बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुणा-बारि भूमि भिजई है ॥
 रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत बिजई है ।
 समरथ बड़ो सुजान सुसाह्य सुकृत-सेन हारत जितई है ॥

लोक में जब जब सुकृत की सेना हारने लगेगी, अधर्म की सेना प्रबल पड़ती दिखाई देगी, तब तब भगवान् अपनी शक्ति का, धर्म-बल का, लोक-बल का प्रकाश करेंगे, ऐसा विश्वास सच्चे भक्त को रहता है । अतः आशा और आनंद से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है ।

लोक-नीति और मर्यादावाद

गोस्वामीजी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा । प्रोत्साहन

और प्रतिबंध द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखनेवाला तत्त्व धर्म है जो दो प्रकार का है—साधारण और विशेष। मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसाय-विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता-पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का, राजा के प्रति प्रजा का, गुरु के प्रति शिष्य का, ग्राहक के प्रति दूकानदार का, छोटी के प्रति बड़ों का इत्यादि इत्यादि। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी है, समाज में वर्ण-विधान हुआ है, त्यों-त्यों इन धर्मों का विस्तार होता गया है। पारिवारिक जीवन में से निकलकर समाज में जाकर उनकी अनेक रूपों में प्रतिष्ठा हुई है। संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें 'साधारण धर्म' का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य-सभ्यता के अंतर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम-धर्म कहलाया। उसमें लोक-संचालन के लिये ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामंजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म पठन-पाठन, तत्त्वचिंतन, यज्ञादि हुए उसी प्रकार शांति और सृष्टि वचन तथा उपकार-बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्र-ग्रहण धर्म हुआ, उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुःख से सहानुभूति आदि भी। और वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का संपादन कर्तव्य ठहराया गया, उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्तव्यवालों अर्थात् लोकरक्षा द्वारा भिन्न भिन्न व्यवसायों का अवसर देनेवालों के प्रति आदर-सम्मान का भाव भी। वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती। हृदय का योग जब तक न होगा, तब तक न कर्म सच्चे होंगे, न अनुकूल

बन्धन निकलेंगे। परिवार में जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार शील, विद्या-भुक्ति, शक्ति आदि की विविधता से समाज में भी नीची-ऊँची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर-सम्मान छोड़कर उन्हें आँख दिखाकर डाटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों को आँख दिखाकर डाँटना, मूखों का विद्वानों का उपहास करना गोस्वामीजी को समाज की धर्म-शक्ति का हास समझ पड़ा।

ब्राह्मणों की मति को 'मोह, मद, रिस, राग और लोभ' यदि निगल जायें, राजसमाज यदि नीतिविरुद्ध आचरण करने लगे, शूद्र यदि ब्राह्मणों को आँख दिखाने लगें, अर्थात् अपने अपने धर्म से समाज की सब श्रेणियाँ च्युत हो जायें, तो फिर से लोक-धर्म की स्थापना कौन कर सकता है ? गोस्वामीजी कहते हैं 'राज्य' 'सुराज्य' 'रामराज्य'। राज्य की कैसी व्यापक भावना है ? आदर्श राज्य केवल बाहर बाहर कर्मों का प्रतिबंधक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को स्पर्श करनेवाला है, उसमें लोक रक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करनेवाला है। यह धर्म-राज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे-बड़े सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला है, समस्त मानवी प्रकृति का रंजन करनेवाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है—आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। इसे जिस प्रकार हाथ-पैर है, उसी प्रकार हृदय भी है, जिसकी रमणीयता के अनुभव से प्रजा आप से आप धर्म की ओर प्रवृत्त होती है। रामराज्य में—

बयरु न करु काहु सन कोई । राम-प्रताप बिषमता खोई ॥
सब नर करहि परस्पर प्रीती । बलहि स्वधर्म-निरत कुति-रीती ॥

लोग जो वैर छोड़कर परस्पर प्रीति करने लगे, वह क्या राम के 'बाहुबल के प्रताप से', दंढभय से ? दंढभय से लोग इतना ही कर सकते हैं कि किसी को मारें-पीटें नहीं; यह नहीं कि किसी से मन में भी वैर न रखें, सबसे प्रीति रखें। सुशीलता की पराकाष्ठा राम के रूप में हृदयकर्षिणी शक्ति होकर उनके बीच प्रतिष्ठित थी। उस शक्ति के सम्मुख प्रजा अपने हृदय की सुंदर वृत्तियों को कर-स्वरूप समर्पित करती थी। केवल अर्जित वित्त के प्रदान द्वारा अर्थशक्ति खड़ी करने से समाज को धारण करनेवाली पूर्णशक्ति का विकास नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यता के बीच राजा धर्मशक्तिस्वरूप है, पारस और बाबुल के बादशाहों के समान केवल घनबल और बाहुबल की पराकाष्ठा मात्र नहीं। यहाँ राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप ही रक्षा के लिये दौड़ता है; ज्ञानी महात्माओं को सामने देख सिद्धासन छोड़कर खड़ा हो जाता है; प्रतिज्ञा के पालन के लिये शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है; स्वदेश की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में सबसे आगे दिखाई पड़ता है; प्रजा के सुख-दुःख में साथी होता है; ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता है। वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देनेवाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिबिंब उसमें देखती है।

राजा के पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा को थी—देखने की ही नहीं, उस पर टीका-टिप्पणी करने की भी। राजा अपने पारिवारिक जीवन में भी यदि कोई ऐसी बात पावे जो प्रजा को देखने में अच्छी न लगती हो, तो उसका सुधार आदर्श-रक्षा के लिये कर्तव्य माना जाता था। सती सीता के चरित्र पर दोषारोप करनेवाले धोबी का सिर नहीं उड़ाया गया; घोर मानसिक व्यथा सहकर भी उस दोष के परिहार का यत्न किया गया। सारांश यह कि माता, पिता, सेवक और सखा के साथ भी

जो व्यवहार राजा का हो, वह ऐसा हो जिसकी उच्चता को देख प्रजा प्रसन्न हो, धन्य धन्य कहे। जिस प्रीति और कृतज्ञता के साथ महाराजा रामचंद्र ने सुग्रीव, विभीषण और निषाद आदि को बिदा किया, उसे देख प्रजा गद्गद हो गई—

रघुपति-चरित देखि पुरवासी । पुनि पुनि कहहि धन्य सुखरासी ॥

राजा की शील-शक्ति के प्रभाव के वर्णन में गोस्वामीजी ने कवि-प्रथा के अनुसार कुछ अतिशयोक्ति भी की ही है—

फूलहि फलहि सदा तरु कानन । रहहि एक संग गज पंचानन ॥

खग मृग सहज बयरु बिसराई । सबनिह परस्पर प्रीति बढ़ाई ॥

काव्य-पद्धति से परिचित इसे पढ़कर कभी यह सवाल नहीं करेंगे कि मृगों का मारना छोड़ सिंह क्या घास खाकर जीते थे ?

देखिए, राजकुल की महिलाओं के इस उच्च आदर्श का प्रभाव जनता के पारिवारिक जीवन पर कैसा सुखद पड़ सकता है—

जद्यपि गृह सेवक-सेवकिनो । विपुल सकल सेवा-विधि गुनी ॥

निज कर गृहपरिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥

जिस वृणोश्रम-धर्म का पालन प्रजा करती थी, उसमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ थीं; उसमें कुछ काम छोटे माने जाते थे, कुछ बड़े। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदनेवाले और कलम लेकर वेदांतसूत्र लिखनेवाले के काम एक ही कोटि के नहीं माने जाते थे। ऐसे दो काम अब भी एक दृष्टि से नहीं देखे जाते। लोक-दृष्टि उनमें भेद कर ही लेती है। इस भेद को किसी प्रकार की चिकनी-चुपड़ी भाषा या पाखंड नहीं मिटा सकता। इस भेद के रहते भी—

बरनाश्रम निज निज धरम-निरत वेद-पथ लोग ।

चलहि सदा पावहि सुख नहि भय सोक न रोग ॥

छोटे समझे जानेवाले काम करनेवाले बड़े काम करनेवालों को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से क्यों नहीं देखते थे ? वे यह क्यों नहीं कहते थे कि

‘हम क्यों फावड़ा चलावें, क्यों दूकान पर बैठें ? भूमि के अधिकारी क्यों न बनें ? गद्दी लगाकर धर्म-सभा में क्यों न बैठें ?’ समाज को अव्यवस्थित करनेवाले इस भाव को रोकनेवाली पहली बात तो थी समाज के प्रति कर्त्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमशः कम होना । ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिये तैयार रहना पड़ता था । ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी । क्षत्रियों को अवसर-विशेष पर अपना सर्वस्व—अपने प्राण तक—छोड़ने के लिये सज्जत होना पड़ता था । शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिये सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था । अतः उच्च वर्ग में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्ग में कम मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी ।

जब तक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता । जब तक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धन-जन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तब तक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता, श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा । जब कर्त्तव्य-भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों का त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी । ऊँची श्रेणियों के अधिकार-प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी । वर्ण-व्यवस्था को छोटाई-बढ़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभिते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहे । रामराज्य में सब अपनी स्थिति में प्रसन्न थे—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना ॥
 सब निर्दभ धरमरत पुनी । नर अरु नारि बतुर सब गुनी ॥
 सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी । सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥

इतनी बड़ी जनता के पूर्ण सुख की व्यवस्था साधारण परिश्रम का काम नहीं है; पर राजा के लिये वह आवश्यक है—

जामु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ॥

जैसी श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' अपने समय में महात्मा बना रहा । समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर असंगत का सूचक है । मूर्ख जनता के इस माहात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए, यह बात गोस्वामीजी साफ साफ कहते हैं—

तुलसी भेड़ी की घँसनि, जड़ जनता-सनमान ।

उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान ॥

जड़ जनता के संमान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य करेगा । ऐसा कार्य लोक-मंगलकारी कभी नहीं हो सकता । जनता के किसी भाग की दुर्गुणियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कला-कौशल, बल-बुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास, कभी नहीं रहेगा । रूस से भारी भारी विद्वानों और गुरुियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है । अल्प शक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है । उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है । परिस्थिति-विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं । इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं ।

गोस्वामीजी ने कलिकाल का जो चित्र खींचा है, वह उन्हीं के समय का है ! उसमें उन्होंने 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' दोनों का हास दिखाया है। साधारण धर्म के हास की निंदा तो सबको अच्छी लगती है, पर विशेष धर्म के हास की निंदा—समाज व्यवस्था के उल्लंघन की निंदा—आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्त्व का द्वार समझनेवाले कुछ लोगों को नहीं सुहाती। वे इन चौपाइयों में तुलसीदासजी की संकीर्ण-हृदयता देखते हैं—

निराचार जो सतिपथ त्यागी । कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी ॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहि ग्याना । मेलि जनेऊ लेहि कुदाना ॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई घर संपति नासी । मूँइ मुड़ाइ होहि संन्यासी ॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत दाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ॥

पर इसी प्रसंग में गोस्वामीजी के इस कथन को वे बड़े आनंद से स्वीकार करते हैं—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ वृषली-स्वामी ॥

गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्यादा का भंग वे लोक के लिये मंगलकारी नहीं समझते थे। मर्यादा का उल्लंघन देखकर ही बलरामजी बरासन पर बैठकर पुराण कहते हुए सूत पर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामीजी उनके कर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिये भी वे समाज में छोटी बड़ी श्रेणियों का विधान आवश्यक समझते थे। इन भावों के लिये आलंबन ढूँढ़ना एकदम व्यक्ति के ऊपर ही नहीं छोड़ा

गया था। इनके आलंबनों की प्रतिष्ठा समाज ने कर दी थी। समाज में बहुत से ऐसे अनुन्नत अंतःकरण के प्राणी होते हैं, जो इन आलंबनों को नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूल रूप से यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य करता है, अतः यह तुम्हारी दया का पात्र है; अमुक वर्ग इस कार्य के लिए नियत है, अतः यह तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उसके शासन और उसके सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगो पर नहीं। अतः लोक-मर्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगो का धर्म यही है कि उसपर श्रद्धा का भाव रखें, न रख सकें तो कम से कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामीजी का “सोशल डिस्प्लिन” समझिए। इसी भाव से उन्होंने प्रसिद्ध नीतिज्ञ और लोक-व्यवस्थापक चाणक्य का यह वचन—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः ।

अनुवाद करके रख दिया—

पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना । सूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रबीना ॥
जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा को क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे,

व्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं ।

काक भुशुंडि की जन्मांतरवाली कथा द्वारा गोस्वामीजी ने प्रकट कर दिया है कि लोक-मर्यादा और शिष्टता के उल्लंघन को वे कितना बुरा समझते थे। काक भुशुंडि अपने शूद्र-जन्म की बात कहते हैं—

एक बार हरि-मंदिर जपत रहेउँ सिव-नाम ।

गुरु आएउ अभिमान तैं उठि नहि कीन्ह प्रनाम ॥

गुरु दयालु नहि कछु कहेउ डर न रोष लबलेस ॥

अति अघ गुरु अपमानता सहि नहि सके महेस ॥

मंदिर माँफ भई नभ-बानी । रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा । अति कृपालु उर सम्यक बोधा ॥
तद्यपि साप हठि देखहुँ तोहीं । नीति-विरोध सुहाइ न मोहीं ॥
जौ नहिं दंड करौं सठ तोरा । भ्रष्ट होइ क्षुति-भारग मोरा ॥
श्रुति-प्रतिपादित लोक-नीति और समाज के सुख का विधान करनेवाली
शिष्टता के ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट संप्रदायों की उच्छृंखलता,
बड़ी के प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे ?

ब्राह्मण और क्षत्र, छोटे और बड़े के बीच कैसा व्यवहार वे उचित
समझते थे, यह चित्रकूट में वशिष्ठ और निषाद के मिलने में देखिए—
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तैं दंड प्रनामू ॥
रामसखा ऋषि बरबस भेंटा । जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

केवट अपनी छोट्टाई के विचार से वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वर को दूर ही से
प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे
बार बार गले लगाते हैं । वह हटता जाता है, वे उसे 'बरबस' भेंटते हैं ।
इस उच्चता से किस नीच को द्वेष हो सकता है ? यह उच्चता किसे खलने-
वाली हो सकती है ?

काक भुशुंडिवाले मामले में शिवजी ने शाप देकर लोकमत की रक्षा की
और काक भुशुंडि के गुरु ने कुछ न कहकर साधुमत का अनुसरण किया ।
साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिये
है । इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामीजी की धर्मभावना के भीतर है ।
चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठजी जब सभा में प्रस्ताव करने उठते
हैं, तब राम से कहते हैं—

भरत-विनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि ।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥

१ उमा संत कै इहै बड़ाई । मंद करत जो करहि भलाई ॥

गोस्वामीजी अपने राम या ईश्वर तक को लोकमत के वशीभूत कहते हैं—

**लोक एक भाँति को, त्रिलोकनाथ लोकवस,
आपनो न सोच, स्वामी-सोच ही सुखात हौं ।**

जब कि दुनिया एक मुँह से तुलसी को बुरा कह रही है तब उन्हें अपनाने का विचार करके राम बड़े असमंजस में पड़ेंगे । तुलसी के राम स्वेच्छाचारी शासक नहीं; वे लोक के वशीभूत हैं क्योंकि लोक भी वास्तव में उन्हीं का व्यक्ति विस्तार है ।

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे गोस्वामीजी व्यक्तिवाद (इंडिवि-
जुअलिज्म) के विरोधी और लोकवाद (सोशलिज्म) के समर्थक से लगते हैं ।
व्यक्तिवाद के विरुद्ध उनकी ध्वनि स्थान स्थान पर सुनाई पड़ती है; जैसे—

(क) मारग सोइ जा कहैं जो भावा ।

(ख) स्वारथ-सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार ।

पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है । उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकाँड तांडव रूस में हो रहा है । वे व्यक्तिकी स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिये कोई फल ही न देख सके । वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरो के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे । राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेकरूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं; उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है, क्योंकि इन संबंधों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं । इन संबंधों की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति-प्राधान्यवाद के वे अवश्य विरोधी हैं ।

समाज की इस आदर्श व्यवस्था के बीच स्त्रियों और शूद्रों का स्थान क्या है, आजकल के सुधारक इसका पता लगाना बहुत जरूरी समझेंगे। उन्हें यह जानना चाहिए कि तुलसीदासजी कहर मर्यादावादी थे, कार्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक थे। पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य सँभालना ही वे स्त्रियों के लिये बहुत समझते थे। उन्हें घर के बाहर निकालनेवाली स्वतंत्रता को वे बुरा समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहि नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी कि साधारणतः पाई जाती हैं, गाँगी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गाँगी और मैत्रेयी बनाने की चिंता उन्होंने कहीं प्रकट नहीं की है। हाँ, भक्ति का अधिकार जैसे सबको है, वैसे ही उनको भी। मीराबाई को लिखा हुआ जो पद (विनय का) कहा जाता है, उससे प्रकट होता है कि 'भक्तिमार्ग' में सबको उत्साहित करने के लिये वे तैयार रहते थे। इसमें वे किसी बात की रिश्तायत नहीं रखते थे। रामभक्ति में यदि परिवार या सप्ताण बाधक हो रहा है, तो उसे छोड़ने की राय वे बेधक देंगे—पर उन्हीं को जिन्हें भक्तिमार्ग में पक्का समझेंगे। सब स्त्रियाँ घरों से निकलकर वैरागियों की सेवा में लग जायँ, यह अभिप्राय उनका कदापि नहीं। स्त्रियों के लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिए जो 'ऋषिवधू' ने 'सरल मृदु बानी' से सीताजी को दिया था।

उन पर स्त्रियों की निंदा का महाप्रसक्त लगाया जाता है; पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिये किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दांपत्य रति के आलंबन के रूप में, की है:—माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री-जाति के प्रति उन्हें कोई द्वेष नहीं था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निंदा उन्होंने की है, वह अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को हट करने

के लिये, और कुछ लोक की अत्यंत आसक्ति को कम करने के विचार से। उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिये कुछ न कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये हैं, कुछ साधारण गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये। अतः स्त्रियों को जो स्थान स्थान पर सुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सबमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिए। किसी वस्तु से विरक्त करना जिसका उद्देश्य है वह अपने उद्देश्य का साधन उसे सुरा कहकर ही कर सकता है। अतः स्त्रियों के संबंध में गोस्वामीजी ने जो कहा है, वह सिद्धांत-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है। पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामीजी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुःख सकता है। स्त्रियों से काम उत्पन्न होता है, धन से लोभ उत्पन्न होता है, प्रभुता से मद उत्पन्न होता है, इसलिये काम, मद, लोभ आदि से बचने की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये वैराग्य का उपदेश देनेवाले कंचन, कामिनी और प्रभुत्व की निंदा कर दिया करते हैं। बस इसी रीति का पाछन बाबाजी ने भी किया है। वे थे तो वैरागी ही। यदि कोई संन्यासिनी अपनी बहिनों को काम, क्रोध आदि से बचने का उपदेश देने बैठे तो पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती है। पुरुष-पतंगों के लिये गोस्वामीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार जी-पतंगियों के लिये वह पुरुषों को भाङ्ग कहेगी।

सिद्धांत और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण ही गोस्वामीजी की बहुत सी उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं। वे प्रसंग-विशेष में कवि के भीतरी उद्देश्य की खोज न करके केवल शब्दार्थ ग्रहण करके तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे एक स्थान पर वे कहते हैं—

सठ सुघरहि सतसंगति पाई । पारस परसि कुबातु सुहाई ॥
फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं—

नीच निषाई नहि तजें जो पावैं सतसंग ।

इनमें से प्रथम उक्ति सतसंग की महिमा हृदयगम कराने के लिये की गई है और दूसरी उक्ति नीच या शठ की भीषणता दिखाने के लिये । एक का उद्देश्य है सतसंग की स्तुति और दूसरी का दुर्जन की निंदा । अतः ये दोनों सिद्धांतरूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं । ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं, जिनका उल्लेख कवि, उपदेशक आदि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करते हैं । काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धांत-निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भाव संचार होता है । बुद्धि की क्रिया की कविजन आंशिक सहायता ही लेते हैं ।

अब रहे शूद्र । समाज चाहे किसी ढंग का हो, उसमें छोटे काम करने-वाले तथा अपनी स्थिति के अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील और शक्ति रखनेवाले कुछ न कुछ रहेंगे ही । ऊँची स्थितिवालों के लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ होमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालों के लिये बड़ी स्थितिवालों के प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी । नीची श्रेणी के लोग अहंकार से उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणी के लोगों का प्रपमान करने पर उद्यत हों, तो व्यावहारिक दृष्टि से उच्चता किसी काम की न रह जाय । विद्या-बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण प्रपमान से कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामाजिक मूल्य कुछ भी नहीं । ऊँची नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी । अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून का—बोधक मानना चाहिए । इतनी न्यूनताओं को अलग अलग न लिखकर वर्णविभाग के आधार पर उन सबके लिये एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है ।

इस बात को मनुष्य-जातियों का अनुसंधान करनेवाले आधुनिक लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि वन्य और असभ्य जातियाँ उन्हीं का आदर-सम्मान करती हैं जो उनमें भय उत्पन्न कर सकते हैं। यही दशा गेंवारो की है। इस बात को गोस्वामीजी ने अपनी चौपाई में कहा है—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी । ये सब ताड़न के अधिकारी ।
जिससे कुछ लोग इतना बिड़ते हैं । बिड़ने का कारण है, 'ताड़न' शब्द
जो ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये
लाया गया है । 'छी' का समावेश भी सुरुचिविरुद्ध लगता है, पर वैरागी
समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए ।

शील-साधना और भक्ति

लोक-मर्यादा-पालन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के साथ ही गोस्वामीजी ने अंतःकरण की सामान्य से अधिक उच्चता संपादन के लिये शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यासमार्ग मानव हृदय के बीच से निकाला, वह अत्यन्त आलोकपूर्ण और आकर्षक है । शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंबन स्थिर कर उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया । उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आपसे आप आकर्षित हो । ऐसे शील-स्वरूप को देखकर भी जिसका हृदय दबीभूत न हो, उसे गोस्वामीजी जब समझते हैं । वे कहते हैं—

सुनि सीतापति शील-सुभाउ ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥

सिसुपल तैं पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।

कहत राम बिधुबदन रिखै सपनेहु लखेउ न काउ ॥

खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनद अपाउ ।

जीति हारि चुचुकारि दुलारत देव दिवावत दाउ ॥

सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ ।
 दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ ॥
 भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
 छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ ॥
 कह्यो राज बन दियो नारि-बस गरि गलानि गयो राउ ।
 ता कुमातु को मन जोगवत व्योँ निज तनु मरम कुघाउ ॥
 कपि-सेवा बस भए कनौड़े, कह्यो पवन-मुत साउ ।
 दैवे को न कहू ऋनिया हौँ, धनिक तू पत्र लिखाउ ॥
 अपनाए सुग्रीव-बिभीषन तिन न तष्यो छल छाउ ।
 भरत-सभा सबमनि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥
 निज करुना-करतूति भुगत पर चपत चलत चरघाउ ।
 सकृत् प्रनाम सुनत जस बरनत सुनत कहत “फिरि गाउ” ।

इस दया, इस क्षमा, इस संकोच-भाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम ऐसे सर्व-शक्ति-संपन्न के आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्गद हो जाता है। जो गद्गद न हो, उसे मनुष्यता से नीची कोटि में समझना चाहिए। असामर्थ्य के योग में इन उच्च वृत्तियों के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। राम में शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक नहीं—अवसर विशेष की प्रवृत्ति नहीं—उनके स्वभाव के अंतर्गत है, इसका निश्चय कराने के लिये बाबाजी उसे ‘सिसुपन’ से लेकर अंत तक दिखाते हैं। यह सुशीलता राम के स्वरूप के अंतर्गत है। जो उस शील-स्वरूप पर मोहित होगा, वही राम पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो सकता है।

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदासजी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौंदर्य, शक्ति और शील, तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन

सोपान हैं जिनपर हृदय कमलः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है । इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उसपर अपने हृदय को बिना प्रयास अङ्ग देते हैं । इसकी स्थापना गोस्वामीजी ने राम के रूप-माधुर्य का अत्यंत मनोहर चित्रण करके की है । शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्राम-वधुओं की दशा देखिए—

(क) तुलसी रही हैं ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,

कौन जाने कहाँ तें आई, कौन की, को ही ।

(ख) बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखि !

मोहिं सी है ।

मग-जोग न, कोमल क्यों चलिहैं ? सकुचाति मही पद-पंकज छूवै ।

तुलसी मुनि ग्राम-बधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन चूवै ।

सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥

यह सौंदर्य उन भोली स्त्रियों की दया को कैसा आकर्षित करता है ।

वे खड़ी खड़ी पछताती हैं कि—

पायँन तौ पनहीं न, पयादेहिं क्यों चलिहैं ? सकुचात हियो है ।

ऐसी अर्न्त रूपराशि के सामान्य-लाभ के लिये, उसके प्रति सुहृद्भाव प्रदर्शित करने के लिये जी ललचता है । ग्रामीण स्त्रियों ने जिनके अलौकिक रूप को देखा, अब उनके वचन सुनने को वे उत्कण्ठित हो रही हैं—

धरि धीर कहै “चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं ।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कलु आपुस में कछु पै कहिहैं ॥”

परिचय बढ़ाने की इस उत्कण्ठा के साथ ‘आत्मत्याग’ की भी प्रेरणा आप से आप हो रही है; और वे कहती हैं—

“कहिहैं जग पोच, न सोच कछु, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ॥”

कैसे पवित्र प्रेम का उद्गार है ! इस प्रेम में काम-वासना का कुछ भी लेश नहीं है । राम-जानकी के दांपत्य-भाव को देख वे गद्गद हो रही हैं—

“सीस जटा, उर बाहुबिखाल, बिलोचन लाल, तिरोछी सी भौहें ।
तून, सरासन, बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
सावर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।”
पूछति प्रामबधू सिय सों “कहौ साँवरे से, सखि, रावरे को हैं ?”

“चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं” कैसा भाव-गर्भित वाक्य है । इसमें एक तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर प्राम-वनिताओं के प्रेम-भाव की पवित्रता दोनों एक साथ फलकती हैं । राम-सीता की ओर ही देखते हैं, उन छियों की ओर नहीं । उन छियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि “चितै हम त्यों हमरो मन मोहैं” । उनके मोहित होने को हम कुछ कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते हैं । अतः ‘हम’ के स्थान पर इस ‘तुम’ शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे ‘असंगति’ का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भाव-व्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है ।

इस सौंदर्य-राशि के बीच में शील की थोड़ी सी मृदुल आभा भी गोस्वामीजी दिखा देते हैं—

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने प्राम-बधुन्ह कै बैन ।
तुलसी प्रभु तरु-तर बिलंब, किए प्रेम-कनौड़ कै न ॥

यह ‘सुचि सरल सनेह’ तुरन्त समाप्त नहीं हो गया, बहुत दिनों तक बना रहा—कौन जाने जीवन भर बना रहा हो । राम के चले जाने पर बहुत दिनों पीछे तक, जान पहचान न होते हुए भी, उनकी चर्चा चलती रही—

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही ।
 गए जे पथिक गोरे साँवरे सखीने,
 सखि ! संग नारि सुकुमारि रही ॥
 जानि-पहिचानि बिनु आपु तें,
 आपुने हूँ ते प्यारे प्रियतम उपही ।
 बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत,
 तनु पुलक नयन जलधार बही ॥

जिसके सौंदर्य पर ध्यान टिक गया, जिसके प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया, उसकी और बातों में भी जी लगने लगता है। उसमें यदि बल-पराक्रम आदि भी दिखाई दे तो उस बल-पराक्रम के महेश्व का अनुमन हृदय बड़े आनन्द से करता है। गोस्वामीजी ने राम के अलौकिक सौंदर्य का दर्शन कराने के साथ ही उनकी अलौकिक शक्ति का भी साक्ष्यत्कार कराया है। ईश्वरावतार उस-रस-से बढ़कर शक्तिमान् विश्व में कौन हो सकता है “लव निमेष परमान जुग, काल जासु कोदंड ।” इस अनंत सौंदर्य और अनंत शक्ति में अनंत शील को योजना हो जाने से भगवान् का सगुण रूप पूर्ण हो जाता है। ‘शील’ तक आने का कैसा सुगम और मनोहर मार्ग बाबाजी ने तैयार किया है ! सौंदर्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अंत में वे उसे ‘शील’ या ‘धर्म’ के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिये छोड़ देते हैं। जब इस शील के मनोहर रूप की ओर मनुष्य आकर्षित हो जाता है और अपनी वृत्तियों को उसके मेल में देखना चाहता है, तब जाकर वह भक्ति का अधिकारी होता है। जो केवल बाह्य सौंदर्य पर मुग्ध होकर और अपूर्व शक्ति पर चकित होकर ही रह गया, ‘शील’ की ओर आकर्षित होकर उसकी साधना में तत्पर न हुआ, वह भक्ति का अधिकारी न हुआ। इस अधिकार-प्राप्ति की उत्कंठा गोस्वामीजी ने कैसे स्पष्ट शब्दों में प्रकट की है, देखिए—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तैं संत-सुभाव गहौंगो ॥
 यथा लाभ संतोष सदा, काहूँ सौँ कछु न चहौंगो ।
 परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
 पुरुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
 विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिँ दोख, कहौंगो ॥
 परिहरि देह-जनित बिता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
 तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

शील-साधना की इस उच्च भूमि में पाठक देख सकते हैं कि विरति या वैराग्य आप से आप मिला हुआ है। पर लोक-कर्तव्यों से विमुख करनेवाला वैराग्य नहीं—परहित-चिंतन से अलग करनेवाला वैराग्य नहीं—अपनी पृथक् प्रतीति होती हुई सत्ता को लोकसत्ता के भीतर लय कर देनेवाला वैराग्य, अपनी 'देह-जनित चिता' से अलग करनेवाला वैराग्य। भगवान् ने उत्तरकांड में संतों के संबंध में जो "त्यागहि करम सुभासुभदायक" कहा है, वह "परहित" का विरोध नहीं है। वह गीता में उपादिष्ट निर्लिप्त कर्म का बोधक है। जब साधक भक्ति द्वारा अपनी व्यक्ति का लोक में लय कर चुका, जब फलासक्ति रह ही न गई, तब उसे कर्म स्पर्श कहाँ से करेंगे ? उसने अपनी पृथक् प्रतीति होती हुई सत्ता को लोक-सत्ता में—भगवान् की व्यक्त सत्ता में—मिला दिया। भक्ति द्वारा अपनी व्यक्त सत्ता को भगवान् की व्यक्त सत्ता में मिलाना मनुष्य के लिये जितना सुगम है उतना ज्ञान द्वारा ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को मिलाना नहीं। संसार में रहकर इंद्रियाथों का निषेध असंभव है; अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिसमें इंद्रियार्थ अनर्थकारी न हों। यह भक्ति-मार्ग है, जिसमें इंद्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं—

विषयिन्ह कहुँ पुनि हरिगुन ग्रामा । स्तवन् सुखद अरु मन अभिरामा ॥

इस प्रकार अपनी व्यक्ति को लोक में लय करना राम में अपने को लय करना है क्योंकि यह जगत् 'सियाराममय' है। जब हम संसार के लिये वही करते हुए पाए जाते हैं जो वह अपने लिये कर रहा है—वह करते हुए नहीं जिसका लक्ष्य उसके लक्ष्य से अलग या विरुद्ध है—तब मानों हमने अपने अस्तित्व को जगत् को अर्पित कर दिया। ऐसे लोगों को ही जीवन्मुक्त कहना चाहिए।

'शील' और 'भक्ति' का नित्य संबंध गोस्वामीजी ने बड़ी भावुकता से प्रकट किया है। वे राम से कहते हैं कि यदि मेरे ऐसे पति से संभाषण करने में आपको संकोच हो, तो मन ही मन अपना लीजिए—

प्रन करिहौं हठि आजु तें रामद्वार परयो हौं।

'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि,

प्रभु की सौं करि निबरयो हौं॥

प्रगट कहत जौं सकुचिए अपराध भरयो हौं।

तौ मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि,

कलि बिलोकि हहरयो हौं॥

फिर यह मालूम कैसे होगा कि आपने मुझे अपना लिया ? गोस्वामी जी कहते हैं—

“तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।

सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै॥

हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।

हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित

कलि कुचाल परिहरिहै॥”

जब कलि की सब कुचालें छूट जायँ, घुरे कर्मों से मुँह मुड़ जाय, तब समझूँ कि मुझे भक्ति प्राप्त हुई। जिस भक्ति से यह स्थिति प्राप्त न हो वह भगवद्भक्ति नहीं; और किसी की भक्ति हो तो हो। गोस्वामीजी की 'श्रुति-संमत' हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शीघ्र है—

प्रीति राम सों, नीति-पथ चलिय, राग-रिसि जीति ।

तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ॥

शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है ? सदाचार ज्ञान द्वारा प्रवर्तित हुआ है या भक्ति द्वारा, इसका पता यों लग सकता है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका साधन बड़े कष्ट से—हृदय को पत्थर के नीचे दबाकर—किया जायगा; पर भक्ति द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका अनुष्ठान बड़े आनंद से, बड़ी उमंग के साथ, हृदय से होता हुआ दिखाई देगा । उसमें मन को मारना न होगा, उसे और सजीव करना होगा । कर्तव्य और शील का वही आचरण सच्चा है जो आनंदपूर्वक हर्षपुलक के साथ हो—

रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु-पाय ।

तुलसी जिनहि न पुलक तनु ते जग जीवन जाय ॥

शील द्वारा प्रवर्तित सदाचार सुगम भी होता है और स्थायी भी; क्योंकि इसका संबंध हृदय से होता है । इस शील-दशा की प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है । विवेकाश्रित सदाचार और भक्ति इन दोनों में किसका साधन सुगम है, इस प्रश्न को और साफ करके बाबाजी कहते हैं—

कै तोहिं लागहि राम प्रिय, कै तू प्रभुप्रिय होहि ।

दुइ महुँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ॥

या तो तुम्हें राम-प्रिय लगे या राम को तू प्रिय लग, इन दोनों में जो सीधा समझ पड़े सो कर । तुम्हें राम प्रिय लगें, इसके लिये तो इतना ही करना होगा कि तू राम के मनोहर रूप, गुण, शक्ति और शील को बार बार अपने अंतःकरण के सामने रखा कर; बस राम तुम्हें अच्छे लगने लगेंगे । शील को शक्ति और सौंदर्य के योग में यदि तू बार बार देखेगा, तो शील की ओर भी कमशः आप से आप आकर्षित होगा । तू राम को प्रिय लगे, इसके लिये तुम्हें स्वयं उत्तम गुणों को धारण करना पड़ेगा और उत्तम कर्मों का संपादन करना पड़ेगा । पहला मार्ग कैसा

सुगम है, जो दूर जाकर दूसरे मार्ग से मिल जाता है और दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। ज्ञान या विवेक द्वारा सदाचार की प्राप्ति वे स्पष्ट शब्दों में कठिन बतलाते हैं।

कहत कठिन, समुक्त कठिन, साधत कठिन विवेक ।

होइ घुनाच्छरन्याय जौ पुनि प्रत्यूह अनेक ॥

कोई आदमी कुटिल है; सरल कैसे हो ? गोस्वामीजी कहते हैं कि राम की सरलता के अनुभव से। राम के अभिषेक की तैयारी हो रही है। इसपर राम सोचते हैं—

जनमे एक संग सब भाई । भोजन, सयन, केलि, तरिकाई ॥

बिमल बंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी याचना करते हैं कि राम का यह प्रेम-पूर्वक पछताना भक्तों के मन की कुटिलता दूर करे—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई । हरउ भगत मन कै कुटिलाई ॥

राम की ओर प्रेम-दृष्टि पड़ते ही मनुष्य पापों से विमुख होने लगता है। जो धर्म के स्वरूप पर सुग्ध हो जायगा, वह अधर्म की ओर फिर भ्रसक नहीं ताकने जायगा। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

पापधंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥

राम के शील के अंतर्गत “शरणागत की रक्षा” को गोस्वामीजी ने बहुत प्रधानता दी है। यह वह गुण है जिसे देख पापी से पापी भी अपने उद्धार की आशा कर सकता है। ईसा ने भी पापियों को निराश होने से बचाया था। भक्तिमार्ग के लिये यह आशा परम आवश्यक है। इसी “शरण-प्राप्ति” की आशा बंधाने के लिये बाबाजी ने कुछ ऐसे पद्य कहे हैं जिनसे लोग सदाचार की उपेक्षा समझते हैं; जैसे—

बंधु बधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि ।

तुलसी प्रभु सुप्रीव की चितइ न कछु कुचालि ॥

इसी प्रकार गुणिका, अजामिल आदि का भी नाम वे बार बार लाए हैं। पर उन्होंने भगवान् की भक्त-वत्सलता दिखाने के लिये ऐसा किया है; यह दिखाने के लिये नहीं कि भक्ति और सदाचार से कोई संबंध ही नहीं है और पाप करता हुआ भी मनुष्य भक्त कहला सकता है। पापियों के उद्धार का मतलब पापियों का सुधार है—ऐसा सुधार जिससे लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं। गोस्वामीजी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति बृह भाव है जिसका संचार होते ही अंतःकरण बिना कष्ट के शुद्ध हो जाता है—सारा कल्मष, सारी मलिनता आप से आप छूटने लगती है। अंतःकरण की पूर्ण शुद्धि भक्ति के बिना नहीं हो सकती, अपना यह सिद्धांत उन्होंने कई जगह प्रकट किया है—

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे ।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥
पर-निदा सुनि खवन मलिन भय, वदन दोष पर गाए ।
सब प्रकार मल-भार लाग निज नाथ चरन बिसराए ॥
तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप सुद्धि हेतु स्तुति गावै ।
रामचरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥

जब तक भक्ति न हो तब तक सदाचार को गोसाईंजी स्थायी नहीं समझते। मनुष्य के आचरण में शुद्ध ज्ञान द्वारा वह दृढ़ता नहीं आ सकती जो भक्ति द्वारा प्राप्त होती है—

कबहुँ जोग-रत भोग-निरत सठ हठ बियोग-बस होई ।
कबहुँ मोह-बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई ॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी ।
कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरमरत ग्यानी ॥
संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई ।
तुलसिदास भवरोग रामपद-श्रेम-हीन नहिं जाई ॥

इसी से उन्होंने भक्ति के बिना शील आदि सब गुणों को निराधार और नीरस कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन ईदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥
कीरति कुल करतूति भूति भलि, सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने ॥

भक्ति की आनंदमयी प्रेरणा से शील की ऊँची से ऊँची अवस्था की प्राप्ति आप से आप हो जाती है और मनुष्य 'संत' पद को पहुँच जाता है । इस प्रेरणा में रूप, गुण, शील, बल, सबके प्रभाव का योग रहता है । इसी प्रकार के प्रभाव से—

भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गइ कलुषाई ।

ज्ञान और भक्ति

यहाँ तक तो भक्ति और शील का समन्वय हुआ; अब ज्ञान और भक्ति का समन्वय देखिए । गरुड को समझाते हुए काक भुशुबि कहते हैं—

“ज्ञानहि भगितिहि नहि कछु भेदा ।”

साध्य की एकता से भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं—

“उभय हरहि भव-संभव खेदा ।”

पहले कहा जा चुका है कि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है । इनमें से सौंदर्य और शील भगवान् के लोक-पालन और लोक-रंजन के लक्षण हैं और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है—जिस शक्ति की अनंतता पर भक्त केवल चकित होकर रह जायगा, ज्ञानी उसके मूल तक जाने के लिये उत्सुक होगा । ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है, अतः ज्ञान के प्रति यह औत्सुक्य भी भक्त के समान एक 'भाव' ही है, या यों कहिए कि भक्ति का ही एक रूप है—पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र की ओर ले जानेवाला जिसमें कोई बिरला ही ठहर सकता है—

ग्यानपंथ कृपान कै धारा । परत खनेस ! होइ नहि धारा ॥

जो इस कठिन ज्ञानपथ पर निरंतर चला जायगा, उसी को अंत में “सोऽहमस्मि” का अनुभव प्राप्त होगा । पर इस “सोऽहमस्मि” की अखंड वृत्ति तक प्राप्त होने की कठिनता गोस्वामीजी ने बड़ा ही लंबा और पेचीला रूपक बाँधकर दिखाई है । इस तत्त्व की सम्यक् प्राप्ति के पहले सेव्य-सेवक-भाव का त्याग अत्यंत अनर्थकारी और दोषजनक है । इसी से गोस्वामीजी सिद्धांत करते हैं कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय, उरगारि !

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यंत गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा गोस्वामीजी ने प्रदर्शित किया है । वे कहते हैं—

**ग्यान बिराग जोग बिग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारिबर्ग जानहि, सब कोऊ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि ! यह रीति अनूपा ॥**

ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्त्वस्थ प्रकृति-स्वरूपा है । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि ‘ज्ञान’ बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है । बोधवृत्ति राग के द्वारा आक्रांति हो सकती है, पर एक राग दूसरे राग को दूर रखता है । सत्त्वस्थ राग यदि दृढ़ हो जायगा तो राजस और तामस दोनों रागों को दूर रखेगा । रागात्मिका वृत्ति को मार डालना तो बात ही बात है । अतः उसे एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोक-धर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके । इसके लिये भूग-बान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमें शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों परमावस्था को प्राप्त होते हैं—

राम काम सत कोटि सुभग तन । दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन ॥

मरुत कोटि सत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास ।

ससि सत कोटि सो सीतल समन सकल भव-त्रास ॥

काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत ।

घूमकेतु सत कोटि सम, दुराधर्ष भगवंत ॥

यद्यपि कथा के प्रसंग में राम विष्णु के अवतार ही कहे गए हैं, पर भक्त की अनन्य भावना में वे देव-कोटि से भी परे हैं—

विष्णु कोटि सम पालन-करता । रुद्र कोटि सत सम संहरता ॥

इस नाम-रूपात्मक जगत् के बीच परमार्थ-तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा पूरा निरूपित नहीं हो सकता । ऐसे निरूपण में अज्ञान का लेसा अवश्य रहैगा; या यो कहिए कि अज्ञान ही के सहारे यह बोधगम्य होगा । अज्ञान अर्थात् दृश्य जगत् के शब्दों में ही यह निरूपण होगा—चाहे निषेधात्मक ही हो । निषेध मात्र से स्वरूप तक पहुँच नहीं हो सकती । हम किसी का मकान ढूँढ़ने में हैरान हैं । कोई हमें मकान दिखाने के लिये ले चले और दुनिया भर के मकानों को दिखाता हुआ “यह नहीं है” “यह नहीं है” कहकर बैठ जाय तो हमारा क्या संतोष होगा ? प्रकृति के विकार और अंतःकरण की क्रिया के स्वरूप को ही अधिकतर हम ज्ञान या शुद्ध-चैतन्य का स्वरूप समझा-समझाया करते हैं । अतः अज्ञान-रहित ज्ञान बात ही बात है । इसी से गोस्वामीजी ललकारकर कहते हैं कि जो अज्ञान बिना ज्ञान या सगुण बिना निर्गुण कह दे, उसके चले होने के लिये हम तैयार हैं—

ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ।

निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

हमारा ज्ञान भी अज्ञान-सापेक्ष है । हमारी निर्गुण भावना भी सगुण भावना की अपेक्षा रखती है ; ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश की भावना अंधकार की भावना की अपेक्षा रखती है । मानव-ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर आज कल के बड़े बड़े विज्ञान-विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए हैं । आगे का मार्ग उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता ।

तर्क और विवाद को भी गोस्वामीजी एक व्यसन समझते हैं। उसमें भी एक प्रकार का स्वाद या रस होता है। इस प्रकार के अनेक रस इस संसार में हैं। कोई किसी रस में मग्न है तो कोई किसी में—

जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि ।
रस-गुन-दोष विचारिबो रसिक रीति पहिचानि ॥

तुलसीदासजी तो सब रसों को छोड़ भक्तिरस की ओर मुक्त हैं और अपनी जीभ से वाद-विवाद का स्वाद छोड़ने को कहते हैं—

वाद-विवाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि ।

इस रामभक्ति के द्वारा ज्ञानियों का साध्य मोक्ष आप से आप, बिना इच्छा और प्रयत्न के, प्राप्त हो सकता है—

राम भजत खोइ मुक्ति, गुसाईं । अनइच्छत आवइ बरिआई ॥

ज्ञानपक्ष में जाकर गोसाईंजी का सिद्धांत क्या है, इसका पता लगाने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि स्थान स्थान पर उन्होंने तत्त्व-ज्ञान का भी उल्लेख किया है, पर अपने लिये उन्होंने कोई एक सिद्धांत-मार्ग स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया है। पहली बात तो यह है कि जब वे भक्तिमार्ग के अनुगामी हो चुके, तब ज्ञानमार्ग ढूँढ़ने के लिये तर्क-वितर्क का प्रयत्न क्यों करने जाते ? दूसरा कारण उनकी सामंजस्य-बुद्धि है। सांप्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य के अनुयायी थे जिनका निरूपित सिद्धांत भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा। उपनिषद्-प्रतिपादित “सोऽहमस्मि” और “तत्त्वमसि” आदि अद्वैत वाक्यों की पारमार्थिकता में विश्वास रखते हुए भी—

गो गोचर जँइ लगि मन जाई । तहँ लगि माया जानेहु भाई ॥
कहकर प्रायवाद का स्वीकार करते हुए भी, कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत मत का आभास उन्होंने दिया है; जैसे—

ईश्वर-अस जीव अविनासी । चेतन, अमल, सहज, सुखरासो ॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं । बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥

गोस्वामी तुलसीदास

शुद्ध ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदों से रहित है। किसी वस्तु का अंश उसका 'स्वगत' भेद है; अतः जीव को ब्रह्म का अंश कहना (ब्रह्म ही न कहना) अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। चित् (जीव) और अचित् (जगत्) दोनों ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीवों और जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ-दृष्टि से— शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामीजी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं। गुरु के ईश्वर और जीव में भेद पूछने पर काक भुशुंछि कहते हैं—

माया-वस्य जीव अभिमानी। ईश-वस्य माया गुण-खानी ॥

परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक, एक श्रीकंठा ॥

इतना भेद करके वे परमार्थ-दृष्टि से अद्वैत पक्ष पर आते हुए कहते हैं कि ये भेद यद्यपि मायाकृत हैं—परमार्थतः सत्य नहीं हैं—पर इन्हे मिटाने के लिये ईश्वर को स्वामी मानकर भक्ति करनी पड़ेगी।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। विनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥

व्याप्य-व्यापक की यह प्रकृति-भावना भी विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल जान पड़ती है—

जो कुछ बात बनाइ कहौ, तुलसी तुममें, तुमहूँ उर माहीं।

जानकीजीवन जानत हौ हम हैं तुम्हरे, तुममें सक नाहीं ॥

इसी प्रकार इस नीचे के वाक्य से भी 'अद्वैत' से असंतोष व्यंजित होता है

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने।

अंत में इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदासजी भक्तिमार्गी थे; अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों का ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञान-मार्ग के सिद्धांतों का ढूँढ़ना नहीं।

तुलसी की काव्य-पद्धति

काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत (इमिटेटिव) या प्रकृत (रियलिस्टिक) तथा अतिरंजित (एक्जैजरेटिव) या प्रगीत (लिरिकल)। कवि की भावुकता की सच्ची फलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म-पक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय में समय समय पर जागती रहती है उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसकी सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बड़ा-बड़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है; उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य-जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया गया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्ण-कमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पर्दित पाटलों के बीच बिचरती है, कभी मरकत-भूमि पर खड़े मुक्ता खचित प्रवाल-भवनो में पुष्पराग और नीलमणि के स्पर्शों के बीच होरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सार्य-प्रभात के कनक-मेखला-

भगवान् की भावमयी मूर्ति की माँकी मिल सकती है। गोस्वामीजी का उद्देश्य लोक के बीच प्रतिष्ठित रामत्व में खीन करना है; कुतूहल या मनोरंजन की सामग्री एकत्र करना नहीं। श्लेष, यमक, परिसंख्या इत्यादि कोरे चमत्कार-विधायक अलंकार रखने के लिये ही उन्होंने कहीं रचना नहीं की है। इन अलंकारों का प्रयोग भी उन्होंने दो ही चार जगह किया है। वे चमत्कारवादी नहीं थे। 'दोहावली' में कुछ दोहों की दुरुहता का कारण उनकी चमत्कार-प्रियता नहीं, समास-पद्धति का अवलंबन है, जिसमें अर्थ का कुछ आच्छेप ऊपर से करना पड़ता है; जैसे, यह दोहा लीजिए—

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि ।

प्रीति-परिच्छा तिहुँन की, बैर बितिक्रम जानि ॥

जो इस संस्कृत श्लोक का अनुवाद है—

उत्कृष्ट-मध्यम-निकृष्ट-जनेषु मैत्रो

यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा ।

वैरं निकृष्टमभिमध्यम उत्तमे च

यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा ॥

श्लोक के भाव को थोड़े में व्यक्त करने के लिये "उत्तम, मध्यम, निकृष्ट" को फिर उलटे क्रम से न रखकर 'बितिक्रम' शब्द से काम चलाया गया है। 'रेखा' शब्द न लाम्बे से अर्थ बिल्कुल लापता हो गया है। अनुवाद की यह असफलता समास या चुस्ती के प्रयास के कारण हुई है; नहीं तो गोस्वामीजी के समान संस्कृत उक्तियों का अनुवाद करनेवाला हिंदी का और दूसरा कवि नहीं। दोहावली में जितने विचित्र-दोहे हैं उनकी क्लिष्टता का कारण यही समासशैली है। ऐसे दोहों में 'न्यूनपदत्व' दोष प्रायः पाया जाता है।

अनुकरण मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है। गोस्वामीजी ने जैसे सब प्रकार की प्रचलित पद्य-शैलियों या छंदों में रचना की है वैसे ही कहीं दो-

एक जगह कूट और आलंकारिक चमत्कार आदि का भी कौशल दिखा दिया है जिसके उदाहरण 'दोहावली' में मिलेंगे। 'दोहावली' में कुछ दोहे ज्योतिष की परिभाषाओं और संकेतों को लेकर रचे गए हैं। बात यह है कि 'दोहावली' में गोस्वामीजी कवि और सूक्तिकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं। भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो 'काव्य' के अंतर्गत लिये जायेंगे, पर नीति-परक दोहे 'सूक्ति' की श्रेणी में स्थान पाएँगे।

'दोहावली' के समान 'रामचरितमानस' में भी गोस्वामीजी कवि के रूप में ही नहीं, धर्मोपदेश और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। 'मानस' के काव्य-पद्धति का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वप्राप्य चित्रण है। जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गर्भार गिरा, संस्कृत और हिंदी दोनों में, उसके प्रकाश के लिये मिली। इस काल में तो 'रामचरितमानस' हिंदू-जीवन और हिंदू-संस्कृति का सहारा हो गया है। भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रंथ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा-बहुत जितना समझ पाते हैं उतने ही के लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं; पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के 'मानस' का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।

इसी एक ग्रंथ से जन-साधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है।

जिस धूमधाम से इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टि-विस्तार के साथ, जगत की ऐसी गंभीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई। रामायणियों में प्रसिद्ध है कि 'बाल' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गंभीरता की थाह डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-जीवन की दशा के हिसाब से देखें तो 'बालकांड' में आनंदोत्सव अपनी हृद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विपन्न स्थिति सामने आती है; 'अरण्य', 'किष्किंधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिंबित करते हैं तथा 'लंका' में और 'उत्तर' में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, 'मानस' में तुलसीदासजी धर्मोपदेश और नीतिकार के रूप में भी सामने आते हैं। वह ग्रंथ एक धर्म ग्रंथ के रूप में भी लिखा गया और माना जाता है। इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं; जैसे, पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरुडपुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल-कथन—

हरि-गुरु-निदक दादुर होई । जन्म सहस्र पाव तन सोई ॥
 सुर-सुति-निदक जे अभिमानी । रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥
 सबकै निदा जे जड़ करहीं । ते अमगादुर होइ अवतरहीं ॥

अब विचारना यह चाहिए कि साहित्य की दृष्टि से ऐसे कोरे उपदेशों का 'मानस' में स्थान क्या होगा। 'मानस' एक 'प्रबंध-काव्य' है। 'प्रबंध-काव्य' में कवि लोग पात्रों की प्रकृति, और शील का चित्रण भी किया करते हैं। 'मानस' में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील-व्यंजक मात्र हैं और काव्य-प्रबंध के अंतर्गत हैं। पर विचार करने पर यह साफ मलल जाता है कि उन उपदेशात्मक वचनों द्वारा

कवि का लक्ष्य वक्ता पात्रों का चरित्र-चित्रण करना नहीं, उपदेश ही देना है। चरित्र-चित्रण मात्र के लिये जो वचन कहलाए जाते हैं उनके यथार्थ-अयथार्थ या संगत-असंगत होने का विचार नहीं किया जाता। पर 'मानस' में आए उपदेश इसी दृष्टि से रखे जान पड़ते हैं कि लोग उन्हें ठीक मानकर उनपर चलें। अतः यही मानना ठीक होगा कि ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कवि का रूप नहीं, उपदेसक-का ही रूप है। अब हम इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्यक्षेत्र के भीतर समझे या बाहर? भीतर समझने के लिये यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच बीच में आए हुए "आगे चले बहुरि रघुराई" ऐसे नीरस पद भी रसवान् हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।

अब रहा यह कि गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' की रचना में वाल्मीकि से भिन्न पथ का जो बहुत जगह अवलंबन किया है, वह किस विचार से। पहली बात तो यह है कि वाल्मीकि ने राम के नरत्व और नारायणत्व, इन दो पक्षों में से नरत्व की पूर्णता प्रदर्शित करने के लिये उनके चरित का गान किया है। पर गोस्वामीजी ने राम का नारायणत्व लिया है और अपने 'मानस' को भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन बनाया है। इससे कहीं कहीं उन्होंने उनके नरत्व-सूचक लक्षणों को दृष्टि के सामने से हटा दिया है। जैसे, वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घ निःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है; सीता को अयोध्या में रहने के लिये समझाते समय उन्होंने

१ दोज कासेप्ट्स विहच आर फाउंड मिग्ल्ड ऐंड फ्यूज्ड विद इव्यूशंज
आर नो लांगर कासेप्ट्स इन सो फार ऐज दे आर रियली मिग्ल्ड ऐंड फ्यूज्ड,
फार दे हैव लास्ट आल इंडिपेंडेस ऐंड आटोनामी, फर एग्जैपुल, द फिलासा-
फिकल मैकिज्मस प्लेस्ड इन द माउथ अव ए परसानेज अव टूजेडी आर
कामेडी दु परफार्म देयर द फंक्शन नाट अव कासेप्ट्स बट अव कैरेक्टरेस्टि-
क्स अव सच परसानेज, —'ऐस्थेटिक्स', बेनेडेटो क्रोचे कृत।

कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना; इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि 'कैकेयी अब सुखी होगी'। ऐसे स्थलों पर राम में इस प्रकार का क्षोभ गोस्वामीजी ने नहीं दिखाया है। पर साथ ही काव्यत्व की उन्होंने पूरी रक्षा की है; अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। अवसर के अनुसार दुःख, शोक आदि की उनके द्वारा पूरी व्यंजना कराई है। अध्यात्मरामायण भक्ति-परक ग्रंथ है, इससे अनेक स्थलों पर उन्होंने उसी का अनुसरण किया है।

पर बहुत कुछ परिवर्तन गोस्वामीजी ने अपने समय की लोक रूचि और साहित्य की रुढ़ि के अनुसार किया है। वाल्मीकि ने प्रेम का स्फुरण केवल लोक-कर्तव्यों के बीज में ही दिखाया है, उनसे अलग नहीं। उनकी रामायण में सीता-राम के प्रेम का परिचय हम विवाह के उपरान्त ही पाते हैं पर गोस्वामीजी के बहुत पहले से काव्यों में विवाह के पूर्व नायक-नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाने की प्रथा प्रतिष्ठित चली आती थी। इससे उन्होंने भी प्रेमाख्यानी रंग (रोमैंटिक टर्न) देने के लिये जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का अनुसरण करके धनुषयज्ञ के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का सन्निवेश किया। उन्होंने जनक की बाटिका में राम और सीता का साक्षात्कार कराके दोनों के हृदय में प्रेम का उदय दिखाया। पर इस प्रेम-प्रसंग में भी राम-कथा के पुनीत स्वरूप में कुछ भी अंतर न आने पाया; लोक-मर्यादा का लेश मात्र भी अतिक्रमण न हुआ। राम-सीता एक दूसरे का अलौकिक सौंदर्य देखकर मुग्ध होते हैं। सीता मन ही मन राम को अपना वर बनाने की लालसा करती हैं, उनके ध्यान में मग्न होती हैं, पर "पितृ-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा"। वे इस बात का कहीं आभास नहीं देती कि पिता चाहे लाख करें, मैं राम को छोड़ और किसी के साथ विवाह न करूँगी। इसी प्रकार राम भी यह कहीं व्यंजित नहीं करते कि धनुष चाहे जो तोड़े, मेरे देखते सीता के साथ कोई विवाह नहीं कर सकता।

वाल्मीकि ने विवाह हो जाने के उपरान्त मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। पर गोस्वामीजी ने उनका समेला विवाह के पूर्व धनुर्भंग होते ही रखा है। इसे भी रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्य युक्ति ही समझना चाहिए। वीरगाथा-काल के पहले से ही वीर-काव्यों की वह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्भुत पराक्रम दिखाता हुआ दूर करता था। इससे नायक के व्यक्तित्व का प्रभाव नायिका पर और भी अधिक हो जाता था, उसपर वह और भी अधिक मुग्ध हो जाती थी। 'रासो' नाम से प्रचलित वीर-काव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरान्त नायिका को ले जाता था। रामचंद्रजी का तेज और पराक्रम धनुष तोड़ने पर व्यक्त हुआ ही था और सीता पर उसका अनुरागवर्द्धक प्रभाव पड़ा ही था कि परशुराम के क्रोध पड़ने से प्रभाव-वृद्धि का दूसरा अवसर निकल आया। परशुराम ऐसे जग-द्विजयी और तेजस्वी का भी तेज राम के सामने फीका पड़ गया। उस समय राम की ओर सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा!

गोस्वामीजी ने यद्यपि अपनी रचना "स्वातःसुखाय" बताई है, पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी) को बहुत ही आवश्यक मानते थे? किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकता; उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए—
मनि मानिकमुकता-छवि जैसो। अहि, गिरि, गज-सिरसोह न तैसी॥
नृप-किरीट सरुनी-तन पाई। लहहि सकल सोभा अधिकाई॥
तैसइ सुकवि-कथित बुध कहहीं। उपजहि अनत, अनत छवि लहहीं॥

आजकल सब बातें विलायती दृष्टि से देखी जाती हैं। अतः यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुमति-निरूपिणी

(सबजेकितव) है अथवा बाह्यार्थ-निरूपिणी (आन्त्रजेकितव)। रामचरित-मानस के संबंध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबंध-काव्य या महाकाव्य है। प्रबंध-काव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है। शेष ग्रंथों में से 'गीतावली' यद्यपि गीत-काव्य है फिर भी वह आदि से अन्त तक कथा ही को लेकर चली है। उसमें या तो वस्तु-व्यापार-वर्णन है अथवा पात्रों के मुँह से भाव-व्यंजना। अतः वह भी बाह्यार्थ-निरूपक ही कही जायगी। कवितावली में भी कथा-प्रसंगों को लेकर ही फुटकल पद्यों की रचना की गई है। हाँ, उसके उत्तर-कांड में कवि राम की दयालुता, भक्त-वत्सलता आदि के साथ साथ अपनी दीनता, निरवलंबता, कातरता इत्यादि का भी वर्णन करता है। 'विनय-पत्रिका' में अलबत तुलसीदासजी अपनी दशा का निवेदन करने बैठे हैं। उस ग्रंथ में वे जगह जगह अपनी प्रतीति, अपनी भावना और अपनी अनुभूति को स्पष्ट 'अपनी' कहकर प्रकट करते हैं जैसे—

(क) संकर साखि जौ राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो ।

अपनो भलो राम-नामहिं तैं तुलसिहि समुझि परो ॥

(ख) बहुमत सुनि, बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ भगरो सो ।

गुरु कइो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-इगरो सो ॥

(ग) को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर, परधाम को ।

तुलसिहि बहुत भलो लागत जग-जीवन रामगुलाम को ॥

(घ) नाहिं न नरक परत मोकहँ डर, यद्यपि हौं अति हारो ।

यह बड़ि प्रास दास तुलसी प्रभु-नामहु पाप न जारो ॥

पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एक दम सबसे न्यमसी हो। 'विनय' में कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या कातरता का उन्होंने वर्णन किया है वह केवल उन्हीं की नहीं है, समस्त लोक की है। इसी प्रकार जिस दीनता, निरवलंबता, दोष-पूर्णता या पापमग्नता की भावना की उन्होंने व्यंजना की है वह भी भक्त

मात्र के हृदय की सामान्य वृत्ति है। वह और सब भक्तों की अनुभूति से अवच्छिन्न नहीं; उसमें कोई व्यक्तिगत विलक्षण्य नहीं।

यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है। कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह जिस रूप में आप अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अतः वे भी उसकी स्वानुभूति ही हुई। दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कहकर प्रकट करता है वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायेगी तो एक कौतुक मात्र होगी; काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज ठहरेंगे। जिस अनुभूति की व्यञ्जना को श्रोता या पाठक का हृदय अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही नहीं रह जायेगी, श्रोता या पाठक की भी हो जायेगी? अपने हृदय को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण्य प्रकट करनेवाला एक संप्रदाय योरप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नकली हृदयों के कारखाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग ऊब गए।

यह तो स्थिर बात है कि तुलसीदासजी ने वाल्मीकिरामायण, अथात्म-रामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक, इत्यादि अनेक ग्रंथों से रचना की सामग्री ली है। इन ग्रंथों की बहुत सी

१ योरप में जो कलावादी संप्रदाय (ऐस्थेटिक स्कूल) चला था वह इन दो बातों में से पहली बात को ही लेकर दौड़ पड़ा था, दूसरी बात की ओर उसने ध्यान ही नहीं दिया था, जैसा कि पेटर के इस कथन से स्पष्ट है—

जस्ट इन प्रोपोर्शन ऐज द राइटर्ज एम, काशस्ली आर अनकाशस्ली, कम्ज टु बि द टैस्काइबिंग, नाट अब द वर्ल्ड, नाट अब मियर फैक्ट, बट अब हिज सेंस अब इट, ही बिकम्ज ऐन आर्टिस्ट, हिज वर्क फाइन आर्ट; एंड गुड आर्ट इन प्रोपोर्शन टु द टूथ अब हिज प्रेजेंटमेंट अब दैट सेंस, ऐज इन दोज हंजलर आर प्लेनर फंक्शन अब लिटरेचर आल्सो, टूथ-टूथ टु बेयर फैक्ट देयर-इज द एसेंस अब सच आर्टिस्टिक क्वैलिटी ऐज दे मे हैव।

उक्तियाँ उन्होंने ज्यों की त्यों अनूदित करके रखी हैं—जैष्ठ; वर्षा और शरद ऋतु के वर्णन बहुत कुछ भागवत से लिए हुए है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में उन्होंने हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक से बहुत सहायता ली है। पर उन्होंने जो संस्कृत उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर अपने अद्वितीय अधिकार के बल से एकदम मूल हिंदी-रचना के रूप में कर डाला है। कहीं से संस्कृतपन या वाक्य-विन्यास की दुरुहता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को अधिक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है। उदाहरण के लिये हनुमन्नाटक का यह श्लोक लीजिए—

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शङ्करात् ।

दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥

इसे गोस्वामीजी ने इस रूप में लिया है—

जो संपत्ति सिव रावनहि दीन्हि दीँ दस माथ ।

सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

इस अनुवाद में “दस माथ दीँ” के जोड़ में “दरसन ही ते” न रखने से याचक के बिना प्रयास प्राप्त करने का जोर तो निकल गया, पर ‘सकुचि’ पद लाने से दाता के असीम औदार्य की भावना से उक्ति परिपूर्ण हो गई है। ‘सकुचि’ शब्द की व्यंजना यह है कि इतनी बड़ी संपत्ति भी देते समय राम को बहुत कम जान पड़ी।

तुलसी की भावुकता

प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वनगमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का

विलाप; भरत की प्रतीक्षा । इन स्थलों को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है ।

एक सुंदर राजकुमार के—छोटे भाई और स्त्री को लेकर—घर से निकलने और वन वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है ? इस दृश्य का गोस्वामीजी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यंत सहृदयता के साथ वर्णन किया है । गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं । ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्राम वधुओं का सन्निवेश किया है । ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम सौंदर्य पर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तांत सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैंकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती है । सौंदर्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं । यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है—

सीता-लषन-सहित रघुराई । गाँव निकट जब निकसहिं जाई ॥
सुनि सब बाल-वृद्ध नर-नारी । चळहिं तुरत गृह-काज बिसारी ॥
राम-लषन-सिय-रूप निहारी । पाइ नयन-फल होहिं मुखारी ॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा । सब भए मगन देखि दोउ बीरा ॥
रामहिं देखि एक अनुरागे । चितवत बले जाहि संग लागे ॥

एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तन पात ॥

कहहि “गँवाइय छिनुक लम, गवनव अबहि कि प्रात ॥”

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामीजी ने कुछ उठा नहीं रखा । सुशीलता के आगार रामचंद्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं; सबसे बड़ी करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो । उनकी सर्वभूत-व्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु-पक्षी भी विकल है ।

भरतजी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहीन दिखाई पड़ी, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि राम-गमन का सर्वोद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सरसरिता के श्रीहीन होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिये है। गोस्वामीजी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है; आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य-प्रभा देखने योग्य है। यह माँकी अपूर्व है। 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

राम-वासथल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके ॥

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस वन में हैं। जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय-संबंधी आनंद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनंद का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से प्रेम-पूर्वक मिले। क्यों ? क्या उसे चिढ़ाने के लिये ? कदापि नहीं। कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नहीं, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नहीं। उन्होंने माताओं से मिलते समय स्पष्ट कहा था—

✓ अथ ! इस-आधीन जग काहु न देख्य दोषु ।

कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार के संदेह का स्थान गोस्वामीजी ने नहीं रखा । कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं । स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी ।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥

अबनि जमहि जाचति कैकेयी । महि न बीचु, बिधि बीचु न देखे ॥

जिस समाज के शील-संदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल-किरात सुगंध होकर सात्त्विक वृत्ति में लीन हो गए, उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता ?

(क) भए सब साधु किरात किरातिनि राम-दरस मिटि गइ कलुषाई ।

(ख) कोलकिरात भिल्ल बनवासी । मधु सुचिसुन्दर स्वादु सुधा-सी ॥

भरि भरि परन-पुटी रुचि रुरी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥

सबहिं देहिं करि बिनय-प्रनामा । कहि कहि स्वाद-भेद गुन नामा ॥

देहि लोग बहु, मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥

और सबसे पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवा जोगु न भाग हमारे ॥

देब काह हम तुम्हहि गोसाई । ईषन पात किरात मिताई ॥

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चोराई ॥

हम जइ जीव ओवधन बाती । कुटिल कुषाली कुमति कुजाती ॥

सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन-दरस प्रभाऊ ॥

उस पुण्य-समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई । उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, बिनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो जो धर्म-ज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है । चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक-

एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरितमानस में यह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी। यह समावेना उस समाज के भीतर बहुत-से भिन्न-भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, स्वसुर और जामात, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का उपस्थित प्रसंग के धर्म-गांभीर्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक या ग्रामीण और क्या जंगली। भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचन-पटुता के साथ, प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे-बड़े की मर्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है। सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जायें, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं, पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच कितने संबंधों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का संबंध लीजिए। अयोध्या की सारी प्रजा

अपना सब काम धँधा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दें।

(२) भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्ति-भाव वहाँ से यहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जो यह दर्प प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ । सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥
वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं।

(७) सीताजी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं। इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥
पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है।

(८) जब से कौशल्या आदि आई हैं, तब से सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती हैं।

(९) ब्राह्मण-वर्ग के प्रति राज-वर्ग के आदर और संमान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मण-वर्ग में, राज्य और लोक के हित-साधन की तत्परता झलक रही है।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिङ्गन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है ।

(११) वन्य कोल-किरातो के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुरील व्यवहार है ।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानवस्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे । इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है ! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं ! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता । जो केवल दापत्य-रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सके या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सके, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते । पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शांश का साक्षात्कार कर सके और उसे श्रोता या पाठक के संमुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें । हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है । वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरंत बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकास होता है । फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दापत्य भाव के दर्शन करते हैं । इसके उपरान्त अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है । तदनंतर पथिक वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सार्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दापत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है ।

/रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो

वीर आत्मावलम्बी राजकुमारो को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करते पाकर वे “वीरभोग्या वसुंधरा” की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीता-हरण पर विप्रलम्भ-भ्रंगार का माधुर्य देखकर पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और भीमत्स हृदय का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांतरस का पुट तो बीच-बीच में बराबर मिलता ही है। हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव-जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर, गोस्वामीजी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल बहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी, लक्षण-प्रथा में गिनाए हुए नवरसों और अलंकारों पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओं का सन्निवेश आपसे आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाषंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसीदासजी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।

गोस्वामीजी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते

हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है ? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्ग्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते ? भावों के साधारण उद्गार से ही सबकी तृप्ति नहीं हो सकती । यह बात अवश्य है कि जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सबसे अधिक गूढ़ और ठीक है । जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है । वह घन और चातक का प्रेम है ।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास ।

एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

अपना उद्देश्य वह आप ही है । उसकी प्यास, उसकी उत्कंठा सदा बनी रहे, इसी में उसकी मर्यादा है; इसी में उसका महत्त्व है—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि

प्रेम-मृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ।

प्रिय के लाख दुर्व्यवहार से भी वह हटनेवाला नहीं है—

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टुक

तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।

चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ?

वह मेघ के लोक-हितकर स्वरूप के प्रति आपसे आप है—वह जगत् के हित को देखकर है—

जीव चराचर जहँ लग है सब को हित मेह ।

तुलसी चातक मन बस्यौ घन सों सहज सनेह ॥

जगत् में सब अपने सुख के लिये अनेक साधन और यत्न करते हैं और फल-प्राप्ति से सुखी होते हैं । फिर चातक और मेघ का यह प्रेम

कैसा है जिसके भीतर न किसी सुख का साधन है, न फल की चाह ।
यह ऐसा ही कुछ है—

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु ।

तुलसी चातक जलद की दीप्ति-भूमि बुध काहु ॥

चातक को मेष का जीवों को सुख देना अत्यंत प्रिय लगता है । वह जो बारहों महीने चिल्लाता है, सो अधिकतर प्रिय के इस सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाती की दो बूंदों के लिये नहीं—

जाँचै बारह मास पियै पपीहा स्वाति-अल ।

उसकी याचना के भीतर जगत् की याचना है, अतः इस याचना से उसका मान है । इस माँगने को वह अपना माँगना नहीं समझता—

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ ।

ऐसे मानी माँगनेहि को बारिद बिनु देइ ॥

अब उस प्रेम की अनन्यता का स्वरूप देखिए—

चरग चंगुगत चातकहि नेम प्रेम की पीर ।

तुलसी परबस हाइ पर परिहै पुहमी नीर ॥

बध्यो बधिक, परयो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच ।

तुलसी चातक प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोंच ॥

चातक का प्रिय लोक-सुखदायी है । उसका मेष सचमुच बड़ा है और सबके लिये बड़ा है । अतः चातक के प्रेम के भीतर महत्त्व की आनंदमयी स्वीकृति छिपी हुई है । इस महत्त्व के संमुख वह जो दीनता प्रकट करता है वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है । किसी के महत्त्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ, भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए । जिससे बड़ा चातक और किसी को नहीं समझता, उसे छोड़ यदि और किसी के सामने वह दीनता प्रकट करे तो उसकी दीनता की सच्चाई में फर्क आ जाय, उसके प्रेम की अनन्यता भंग हो जाय । जो आज एक से

कहता है कि “आपसे न माँगे तो और किससे माँगने जायेंगे ?” और कल दूसरे से, वह उस दैन्य तक पहुँच ही नहीं सकता जो भक्ति का अंग है। जिस महत्त्व के प्रति सच्ची दीनता प्रकट की जाती है, उसका कुछ आभास लोक को उस दीनता में दिखाई पड़ता है—

तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के साथ

तुलसी आसु न दीनता सुनी दूसरे नाथ

इस प्रेम के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नहीं है, अपने से बड़े या ऊँचे के प्रति है। गोस्वामीजी अपने से बड़े या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते हैं—

कै लघु कै बड़ भीत भल, सब सनेह दुख सोइ

तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ

इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे-बड़े के संबंध में धर्म-भाव अधिक है। यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उसपर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दक्षिण्य, अलुकांपा, क्षमा, साहाय्य इत्यादि वृत्तियों को उभारेगा; यदि प्रिय हमसे बड़ा है तो उसपर आलंबित प्रेम, श्रद्धा, संमान, दैन्य, नम्रता, संकोच, कृतज्ञता, आशाकारिता इत्यादि को जाग्रत करेगा। इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि हमारे गोस्वामीजी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप में था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्मसमर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नहीं। यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील बाबाजी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के—आभ्यंतर स्वरूप के सही—अंतर्गत है। भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार बिंब-प्रतिबिंब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमें तो ऐसा

दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलंबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं। शील और भक्ति का अभेद देखने का इतना विवेचन बहुत है।

दांपत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामीजी ने बहुत ही सुंदर दिखाया है, पर वही ही मर्यादा के साथ। नायिकाभेदवाले कवियों का सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा लोक-मर्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है। सीता-राम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसकी परिपक्वता जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है। अभिषेक के राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है। आनंदोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य में परिणत हो जाता है। राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश बताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते हैं। इसपर सीता कहती हैं—

बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय-विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु-बियोग-लवलेस-समाना । सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥
कुस-किसलय-साथरो मुहाई । प्रभु संग मंजु मनोज-तुराई ॥
कंद मूल-फल अमिय-आहारू । अवध सौधसत-सरिस पहारू ॥
मोहिं मग चलत न होइहि हारी । छिनु छिनु चरन-सरोज निहारी ॥
पाँय पखारि बैठि तरु-छाहीं । करिहौं बाउ मुदित मन माहीं ॥
बार बार मृदु मूर्ति जोही । लागिहि ताति बयारि न मोही ॥

दुःख की परिस्थिति में सुख की इस कल्पना के भीतर हम जीवन-यात्रा में श्रांत पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेम मार्ग निराला नहीं है, जीवन-यात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काटों पर फूल बिछाता है। राम-जानकी को नंगे पाँव चमत्ते देख ग्रामवासी कहते हैं—

जौ जगदीस इनहिं बन दीन्हा । कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमन-मय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मंगल था। सीता को तो सहस्रो अयोध्याओं का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह-नेह नित बढ़त बिलोकी । हरषित रहति दिवस ज़िमि कोकी ॥
सिय-मन राम-चरन-अनुरागा । अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥
परन-कुटी प्रिय प्रियतम संगी । प्रिय परिवार कुरंग-बिहंगा ॥
सासु-ससुर-सममुनितिय मुनिबर । असन-अमिय-समकंद मूल-फर ॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है ? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर । अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे ? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी । कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अंग थे । ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है । प्रिय के प्रयत्नों में ऐसे ही स्वाभाविक सहयोग की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड़ सुख कीन ॥
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन ॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग-बिहंग' अपने परिवार के भीतर जान पड़ते थे । उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल-पौदों को छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था ।

सीताजी द्वारा शृंगार के संचारी भाव 'व्रीह्याः क्री व्यञ्जना' के लिये कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है ! वन के मार्ग में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की

और लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कीन हैं। इस पर सीता—
तिनहिं बिलोकति बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचति बर-बरनी ॥

‘बिलोकति धरनी’ कितनी स्वाभाविक मुद्रा है ! ‘दुहुँ संकोच’ द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान-अन्यता भी कैसे ढंग से व्यंजित कर दी है। एक तो राम को खुले शब्दों में अपना पति कहने में संकोच; दूसरा संकोच यह समझकर कि यदि इन भोली-भाली ब्रियों को कोई उत्तर न दिया जायगा तो ये मन में दुखी होंगी और मुझे अभिमानिनी समझेंगी।

इसके आगे सीताजी में शृंगारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यंत निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामीजी ने किया है—

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
संजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि ॥

यदि आम रास्ते पर राम के साथ बातचीत करने में ये चेष्टाएँ दिखाई जाती तो कुल-वधू की मर्यादा का भंग होता और कोई विशेष निपुणता की बात न होती, रुढ़ि का अनुसरण मात्र होता। पर बीच में उन ब्रियों को डाल देने से एक परदा भी खड़ा हो गया और अधिक स्वाभाविकता भी आ गई। सीता में ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के संबंध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं। यदि राम-सीता के परस्पर व्यवहार में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो ‘संभोग शृंगार’ का खुला वर्णन हो जाता, जो गोस्वामीजी ने कहीं नहीं किया है।

अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ ‘अनुभाव’ होगी या विभावांतर्गत ‘हाव’। हिंदी के लक्षण-ग्रंथों में ‘हाव’ प्रायः ‘अनुभाव’ के अंतर्गत रखे मिलते हैं। पर यह ठीक नहीं है। ‘अनुभाव’ के अंतर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ आ सकती हैं। ‘आश्रय’ की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर ‘हावों’ का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिये नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने

के लिये, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिये, होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह 'आलंबन' होता है। अतः 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलंबनगत ही मानी जायँगी और आलंबनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अंतर्गत ही ठहरता है।

अब विचार करना चाहिए कि सीताजी की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या 'हाव'। लक्ष्मण के अनुसार 'संभोगेच्छा-प्रकाशक भ्रूनेत्रादिविकार' ही 'हाव' कहलाते हैं। पर सीताजी के विकार इस प्रकार के नहीं हैं। वे विकार राम के साथ अपने संबंध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार 'अनुभाव' ही होंगे।

सीता-हरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिसमें बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वंस कर देता है। वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलनेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों के बैठे-बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करनेवाला, पृथ्वी का भार उतारनेवाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।

हुनुमान् के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थी—
 पावकमय असि स्रवत् न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥
 सुनिय बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम कह हृदमम सोका ॥
 नूतन किसलय अनल समाना। देहि अग्नि जिनि करहि निदाना ॥

इतना कहते ही हनुमान् का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर हाथ में लेना, यह सब तो गोस्वामीजी ने प्रसन्नराधव नाटक से लिया है। हनुमान् को सामने पाकर सीता उसी मर्यादा के साथ अपने वियोग-जनित दुःख की व्यंजना करती है जिस मर्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुज-सहित' राम का (अकेले राम का नहीं) कुशल पूछती हैं; फिर कहती हैं—

कोमलचित्त कृपालु रघुराई । कपि, केहि हेतु घरी निठुराई ॥
सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहि निरखि स्याम मृदुगाता ॥

प्रिय के कुशल-मंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में है, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका सा मेल कर देता है। भारत की कुल-वधू का विरह आवाज़ आशिकों-माशिकों का विरह नहीं है, वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखता है; प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

पवित्र दापत्य-रति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है जिस समय ग्राम-वनिताओं ने मार्ग में राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि “ये तुम्हारे कौन हैं ?”

कोटि मनोज लजावन हारे । सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुचि सोय मन महँ सुसुकानो ॥
तिन्हि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सँकोचसकुचाँत बर-बरनी
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकषयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लषन कधु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी । पिय-तन चितै भौह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हि सिय सैननि ॥

कुल-वधू की इस अल्प व्यञ्जना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलाप में कहाँ ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामीजी ने अत्यंत हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसी-वर्णित रामचरित में दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसंग और दूसरा लंका में लक्ष्म्या को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; नह प्रिय का प्रवास-जन्य दुःख मात्र नहीं। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है—

कैकयनंदनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह ॥

जेहि रघुनंदन जानकिहिं सुख-अवसर दुख दीन्ह ॥

अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं—

राम चलत अति भएउ विषादू । सुनि न जाइ पुर आरतनादू ॥

यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्तनाद शोक-सूचक है। प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुःख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों हैं।

“तुलसी राम वियोग-सोक-बस समुभक्त नहि समुझाए ।”
में वियोगी और शोक-सूचक वाक्य यद्यपि मिले हुए हैं, पर हम चाहें तो उन्हें अलग करके भी देख सकते हैं। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन बिलोकति सूनो ।

तब तब बिकल होति कौसल्या, दिन दिन प्रति दुख दूनो ॥

को अब प्रात कलेऊ माँगत रुठि चलैगो माई ?

स्याम-तामरस-नयन स्रवत जल काहि लेहुँ चर लाई ?^१

१ यद्यपि वन-गमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामीजी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

शोक या करुणा की व्यंजना इस प्रकार के वाक्यों में सम्मिलित—

मृदु 'मूरति सुकुमार सुभाऊ । ताति बाउ तन लाग न काऊ ॥
ते बन बसहि बिपति सब भाँती । निदरे कोटि कुलिस सहि छाती ॥
राम सुना दुख कान न काऊ । जीवन-तरु जिमि जोगवह राऊ ॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी । कंद-मूल-फल-फूल-अहारी ॥

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है । उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवघ भयावनि भारी । मानहुँ कालराति आँधियारी ॥
घोर-जंतु-सम पुर-नर-नारी । डरपहिँ एकहिँ एक निहारी ॥
घर मसान, परिजन जनु भूता । सुत हित भीत मनहुँ जमदूता ॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥
बिधि कैकयीकिरातिनि कीन्हीं । जेहिदवदुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी । चले लोग सब व्याकुल भागी ॥
करि बिलाप सख रोवहिँ रानी । महाबिपति किमि जाइ बखानी ॥
सुनि बिलाप दुखहूँ दुख लागा । धीरजहूँ कर धीरज भागा ॥

गोस्वामीजी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्य मात्र हो सकते हैं; क्योंकि यह ऐसे आलंबन के प्रति है जिसके थोड़े से दुःख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणाई हो सकते हैं ।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है । इस विलाप के भीतर शोक की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से की गई है । उसके प्रवाह में एक क्षण के लिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

औ जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू । पिता-बचन मनतेउँ नहिँ ओहू ।

भाव-दशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पार्षद धारण करनेवाले, इसे चरित्र-ग्लानि समझेंगे या कहेंगे । पर ऐसे प्रिय बंधु का शोक, जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साध न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पड़ती जो भक्तों की आशा का अवलंबन है ? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है । नियमों से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अंत में भक्तिमार्ग में आकर उस परोक्ष हृदय को उसमें पाया । भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है; वह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अर्पित समुद्र है । लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है-वह उसी समुद्र का एक बिंदु है ।

'आत्मग्लानि' का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी ने कहाँ दिखाया हो । आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सार्विक अंतःकरण में ही हो सकता है, अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से । भरतजी को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी ।—जिन राम का उनपर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्होंने वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायें, यह दुःख उनके लिये असह्य था । इस दुःख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी । गति अखि तोरि मातु जेहि लागी ॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर-केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
बिग मोहि भयउँ बेनु-बन आगी । दुसह-दाह-दुख-दूषन-भागी ॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता।—

जो पै हौं मातु मते महँ हैहौं ।

तौ जननो जग में या मुख को कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?
क्यों हौं आज होत सुचि सपथान ? कौन मानिहै साँची ?
महिमा-भृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची ?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूँझै ?
दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै ?

कैकैया की सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है । उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जो पै कुरुचि रही अति तोहीं । जनमत काहे न मोरसि मोहीं ॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा । मीन जियन-हित बारि उलीचा ॥
जब तैं कुमति ! कुमत जिय ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
वर माँगत मन भई न पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कोरा ॥
अस को जीव-जंतु जग माँहीं । जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ॥
मे अति अहित राम तेउ तोहीं । को तू अहसि ? सत्य कहु मोहीं ॥

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु वचन कझो, रो ?

“राम जाहु कानन” कठोर तेरे वैसे धौं हृदय रखो रो ॥
दिनकर बंस, पिता दसरथ से राम लषन से भाई ॥
जननी ! तू जननी तो कहा कहाँ ? बिधि केहि खोरि न लाई ॥
“हौं लाइहौं सुख राजमातु है, सुत सिर छत्र धरैगो ॥”
कुल-कलंक-मल-भूल मनोरथ तब बिनु कौन करैगो ?

**ऐहैं राम सुखी सब हैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं ?
तुलसिदास मोको बड़ो सोच, तू जनम कौन बिधि भरिहैं ?**

एक बार तो संसार की ओर देखकर भरतजी अग्रश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अग्रश हरेगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी ! वे समझते हैं कि राम के आते ही मेरा अग्रश दूर हो जायगा । उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते ।

परिहरि राम सीय जग माहीं । कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ।

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है । वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे ! भरत की आशा का एक मात्र आधार यही विश्वास है । कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफाई देते हैं, उनके एक एक शब्द से अंतःकरण की स्वच्छता झलकती है । उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

**जे अघ मातु, पिता, सुत मारे । गाय-गोठ महिसुर-पुर जारे ॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हें । मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहहीं । करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं ॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता । जौं एहु होइ मोर मत माता !**

इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं है । यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले ।

हास्यरस का एक अच्छा छौंटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है । नारदजी बंदर का मुँह लेकर ध्वजंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा । सो सरूप नृप-कन्या देखा ॥
मर्कट बदन भयंकर देहो । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूलो । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूखी ॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाही । देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥

गोस्वामीजी का यह हास भी मर्यादा के साथ है, 'स्मित' हास है, बड़े लोगो का हास है । उसपर भी उद्देश्य-गर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है । यह मोह और अहंकार छुड़ाने का एक साधन है । इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है ।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुंदर कांड में एक लंबी पृष्ठ के बंदर को पूछ में लुका बाँधकर नाचते हुए और-राक्षसों के लड़कों को ताली बजा बजाकर कूदते हुए देखिए । थोड़ी देर बड़ी ठहरने पर ऐसा भयानक और बीभत्स कांड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा । कवितावली में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है । देखिए, कैसे आवेगपूर्ण भय है—

(क) “लागि, लागि आगि” मागि भागि चले जहाँ तहाँ

धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं ।

टूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,

कहैं बारे बूढ़े “बारि बारि” बार बारहीं ॥

हय हिहिनात भाने जात, घहरात गज,

भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि बारहों ॥

नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,

तात, तात ! तौसियत भौंसियत मारहीं ॥

(ख) लपट कराल ब्वालजाल-माल दहूँ दिसि,

धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ।

पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,

परे पाइमाल जात, आत ! तू निबाहि रे ॥

प्रिय ! तू पराहि, नाथ नाथ ! तू पराहि, बाप,
बाप ! तू पराहि, पूत, पूत ! तू पराहि रे ।

तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहै,

“लेहि दससीस अथ बीस चख चाहि रे ॥”

इसी लंकादहन के भीतर यह बीभत्स कांड सामने आता है—

हाट बाट हाटक पिघलि घी सो घनो,

कनक-कराही लंक तलफति ताय सों ।

नाना पकवान जातुधान बलवान सब,

पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भौति भाय सों ॥

— पिश्रुचिनियों और डार्कनियों की बीभत्स क्रीड़ा का जो कविप्रधानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

ओझरी की ओरी काँधे, आँतान की सेल्ही बाँधे,

मूड़ के कमंडलु, खपर किए कोरि कै

बोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,

तीर तीर बैठी सो समर-सरि खोरि कै ॥

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,

प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै ॥

तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,

हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥

कवायद की पूरी पाबंदी के साथ बहुत थोड़े में रौद्ररस का उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माषे लषन कुटिल भई भौहैं । रद-पट फरकत नयन रिसौहैं ॥

रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होऊ । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥

इसमें अनुभाव भी है, अमर्ष संचारी भी है । संभव है, कुछ लोगों को “रिसौहैं” शब्द के कारण ‘स्वशब्दवाच्यत्व’ दोष दिखाई पड़े; पर

अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यञ्जना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता ।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकाण्ड भरस पड़ा है । 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यञ्जना अत्यंत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है । वीररस का वर्णन-कौशल उन्होंने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत-काल के चारणों की छुप्यवाली ओजस्विनी शैली के भीतर, इधर के फुटकरिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर; और अपनी निज की गीतिका-वाली शैली के भीतर । नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।

कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत ॥

बबरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत ।

बिकट कटक बिहरत बार बारिद जिमि गज्जत ॥

लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय" उच्चरत ।

तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत ॥

(२) दबकि दबारे एक, बारिध में बोरे एक,

मगन मही में एक गगन उड़ात हैं ।

पकरि पछारे, कर-बरन उखारे, एक

बीरि फारि हारे, एक मीजि मारे लात हैं ॥

तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,

चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं ।

बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,

जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं ॥

(३) भब क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।

कोदंड-धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत प्रसे ॥

मंदोदरी उर कंठ] कंठि कमठ भू भूधर त्रसे ।

चिक्करहि दिगज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत बीरोत्साहपूर्ण है । जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु, भानु-कुल-कमल-भानु ! जौ अब अनुसासन पावौं ।

का बापुरो पिनाकु ? मेलि गुन मंदर-मेरु नवावौं ॥

देखौ निज किकर को कौतुक, क्यों कोढ़ड चढ़ावौं ।

लै धावौं, भंजौं मृनाल व्यौं तौ प्रभु अनुज कहावौं ॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उबिं अति गुर्बि, सर्व पन्ध्रै समुद्र सर ।

ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥

दिगग्यंद तरखरत, परत दसकंठ मुख बर ।

सुर विमान हिमभानु भानु सघटित परस्पर ॥

चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो ।

ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहि राम सिव-धनु दल्यो ॥

धनुर्भंग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें प्रदर्शित 'उत्साह' का आलंबन क्या है । प्रचलित साहित्य-ग्रंथों में देखिए तो युद्धवीर का आलंबन विजेतव्य ही मिलेगा । यह विजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है । अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है । पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ धनुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह जाग्रत करेगा, यह समझने नहीं बनता है । वह तो पड़ा पड़ा ललकार नहीं रहा है । यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और बल है कि वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उठा सकता है, तो पहाड़ पर जाकर उसकी क्या दशा होगी ! अतः हमारी समझ में उत्साह का आलंबन कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है ।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्य-तत्परता की मूर्ति हनुमान् कहते हैं—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं ।

तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुषा सिर ॥ १ ॥

कै पाताल दलों व्यालावलि अमृतकुंड महि लाव ।

भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ॥

बिबुध-वैद बरबस आनौ धरि तौ प्रभु अनुज कहावौं ।

पटकों मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पायु बहावौं ॥

हनुमान् के इस 'वीरोत्साह' का आलंबन क्या है ? क्या चंद्रमा, अश्विनीकुमार इत्यादि ? खैर, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा; यहाँ इतना ही निवेदन करके रसज्ञो से क्षमा चाहते हैं ।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है । हनुमान्जी पहाड़ हाथ में लिए आकाश-मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़े जा रहे हैं—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो ।
मारुत-नंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मानो प्रतच्छ परबत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि बायो ॥

इस पद्य के भीतर "मारुत को, मन को, खगराज को" इस वाक्यांश में कुछ 'दुष्कर्मत्व' प्रतीत होता है । मन को सब के पीछे होना चाहिए; मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है । पर समग्र वर्णन से चित्र जो सामने खड़ा होता है, उसके अद्भुत होने में कोई संदेह नहीं । गगनमंडल के बीच पहाड़ की एक लीक सी बंध जाना कोई साधारण व्यापार नहीं है । इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है । यह सूचित करती है कि अत्यंत वेग से

गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है। जिसकी दृष्टि ऐसी ऐसी अंतों पर न जाती हो, वह कवि कैसा ? प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिये कवि की आँखें खुली रहनी चाहिएँ; उसका मृदु संगीत सुनने के लिये उसके कान खुले रहने चाहिएँ; और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए। अद्भुत रस के इस आलंबन द्वारा गोस्वामीजी की वह स्वभाविक विश्व-व्यापार-प्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिंदी के और किसी कवि में नहीं। इस स्वभावसिद्ध अद्भुत व्यापार के सामने “कमल पर कदली, कदली पर कुंड, शंख पर चंद्रमा” आदि कवि-प्रीति-सिद्ध रूपकतिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं ? लड़कों के खेल हैं। बालकों या बाल-रुचिवालों का मनोरंजन उनसे होता हो, तो हो सकता है।

गोस्वामीजी ने अपनी इस परिष्कृत और गंभीर रुचि का परिचय अलंकारों की योजना में बराबर दिया है। लंकादहन के प्रसंग में जहाँ हनुमान्जी अपनी जलती हुई पूँछ इधर से उधर घुमाते हैं; वहाँ भी अपनी ‘उत्प्रेक्षा’ और ‘संदेह’ को वे इसी स्वभावसिद्ध व्यापार पर टिकाते हैं—

बालघो बिसाल विकराल ज्वाल-जाल मानौ,

लंक लीलबे को काल रसना पसारी है।

कैधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,

बीर रस बीर तरवारि सी उधारी है॥

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार, जो देखने में केवल अलौकिकत्व-विधायक प्रतीत होते हैं, हेतुप्रेक्षा के व्यंग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे। पथिक-वेश में राम-लक्ष्मण वन के मार्ग में चल जा रहे हैं (क्षमा किजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार बार सामने आया करता है)। गोस्वामीजी कहते हैं—

जह जहँ जाहि देव रघुराया। तहँ तहँ मेघ करहि नभ छाया॥

जिस समय मेघखंड आकाश में बिखरे रहते हैं, उस समय पथिक के मार्ग में कभी धूप पड़ती है, कभी छाया। इस छाया पड़ने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि “मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं” तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा। इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यंजना इष्ट होगी, वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो जायगा। प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुंदर स्वाभाविक उक्तियाँ अक्सर मिलती हैं जिनमें से किसी किसी को लेकर और उनपर एक साथ कई प्रादोक्तियाँ लादकर पिछले खेबे के कवियों ने एक भद्दी इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है। जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानों उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञान-शाकुंतल में भौरा शकुंतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

‘सलिल सेसंभमुग्गदो, एोमालिअं उब्भिअ बअरणं मे महु-अरो अहिंवट्टइ’—

हमारे लाला भिस्तारदासजी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी-भरकम ढाँचा खड़ा कर दिया—

आनन है अरविद न फूले, अलीगन ! भूले कहा मँडरात हौ ?
कीर कहा तोहि बाई भई भ्रम बिंष के ओठन को लज्जात हौ ?
दासजू ब्याली न बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलति बाल न बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कहाँ दिखाई पड़े। प्रमर बाधा तक तो कोई-बिना की बात नहीं। पर उसके ऊपर यह शुक-बाधा, मयूर-बाधा और मृग-बाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठे ही रहना पड़ेगा।

बहुत लोगों ने देखा होगा कि भौरा आदमी के पीछे अक्सर लग जाते हैं, कान और मुँह के पास मँडराया करते हैं और हटाने से जल्दी

हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेस में होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भौरे आकर कान के पास भँहराया करते हैं। अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में जो सौंदर्य है, यह हमें अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वभावसिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतुप्रेक्षा में दिखाई पड़ता है। जैसे भौरा जो बार बार मुँह के पास जाता है, वह मानों मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामीजी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं; फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के संबन्ध में राम लोक-ध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सों चरचो जानमनि रघुराइ ।

दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आई ॥

मयादास्तंभ राम लोक-मत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वात्मीक के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दोनबंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि ।

कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि ॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं बलि आपुही कीबी बिनय समुझि सुधारि ।

जौ लौं हौं सिखि लेउं वन ऋषि-रीति बसि दिन चारि ॥

तापसी कही कहा पठवति नृपनि को मनुहारि ।

बहरि तिहि बिधि आई कहि है साधु कोउ हितकारि ॥

लपन काल कृपाल ! निपटहि डारिबी न बिसारि ।

पालवी सब तापसनि क्यों राजधर्म बिचारि ।

सुनत सीता-वचन मोचत सकल सोचन-बारि ।

बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि ॥

काव्य के भाव-विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' न होगी। उसे विषाद, चोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए। कैकेयी को समझाते समय मंधरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यंजना गोस्वामीजी ने बड़ी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मंधरा को कैकेयी बुरा-भसा कहती है, तब वह कहती है—

हमहुँ कहव अब ठकुरसुहाती । नाहिं त मौन रहव दिन-राती ॥

कौन नृप होउ हमहिं का हानी । चेरि छाँड़ि अब होव कि रानी ॥

हिंदी कवियों में तुलसी ऐसे भावुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में और ऐसे उपयुक्त अवसर पर उसका विधान कर सकता है? इस 'उदासीनता' के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था। सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस सँदेसे में दिया है जो उन्हें कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँवेसो देवकी सों कहियो ।

हौ तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥

'आश्चर्य' को लेकर कविजन 'अद्भुतरस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण, हम 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (वंडर और सरप्राइज) में भेद किया है। आश्चर्य किसी बिलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है

जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय । जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं । राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—
बाँधे बननिधि नीरनिधि ? जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपकाकर पूछन —
 “अरे कौन ? रामप्रसाद के बाप ? माताप्रसाद के लड़के ? शिवप्रसाद के भाई ? असुक स्टेट के मैनेजर ?” इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामीजी सब भावों को अपने अंतःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्ष्य-प्रार्थों में देखकर उनका सन्निवेश करनेवाले नहीं ।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है ? गोस्वामीजी ने उसपर भी ध्यान दिया है । उनकी अंतर्दृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है । सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन वन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं; और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं । इस पर राम कहते हैं—
हमहिं देखि मृग-निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहैं भय नहीं ॥
तुम आनंद करहु मृगजाए । कंचनमृग खोजन ये आए ॥
 कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिंदा है !

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है । कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया ? मृगियों को भय क्यों नहीं था ? बात यह है कि आखेट की यह मर्यादा चली आती है कि मादा के ऊपर अन्न न चलाया जाय । शिकार खेलनेवालों में यह बात प्रसिद्ध है यहाँ गोस्वामीजी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है ।

देखिए 'श्रम' की व्यंजना किस कोमलता के साथ गोस्वामीजी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल बन की ओर चली है—

- (क) पुर तैं निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
भलकी भरि भाल कनी बल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि ब्रूमति है 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटो करिहौ कित है।'।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल चवै ॥
- (ख) "जलको गए लखन हैंलरिका, परिखौ पियछाँह घरीक द्वै ठाढ़े।
पोछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौ भूभुरि बाढ़े ॥,,
तुलसी रघुबीर-प्रिया-सम जानिकै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ॥
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलकोतनु बारि बिलोचन बाढ़े ॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यंजना कैसी मनोहर है ? यह 'श्रम' स्वतंत्र है, किसी और भाव का संचारि होकर नहीं आया है।

गोस्वामीजी को मनुष्य की अंतःप्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिंदी के और किसी कवि को नहीं। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं, इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा तब उनके चित्त में क्या आया होगा, यह देखिए—

सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फेंट।

त्यो सुग्रीव विभीषनहि भई भरत की भेंट ॥

रास्ते भर तो वे बहुत ही प्रसन्न आए होंगे और राम के साथ रहने के कारण अपने को गौरवशाली—शायद साधु और सज्जन भी—समझते रहे होंगे। पर यह महत्त्व उनका निज का अर्जित नहीं था, केवल राम की कृपा से मिला हुआ था। वे जो उसे अपना अर्जित समझते आ रहे थे, यह उनका भ्रम था। उनका यह भ्रम राम और भरत का मिलना देखकर दूर हो गया। वे ग्लानि से गड़ गए। उनके मन में आया कि

एक भाई भरत है, और एक हम लोग हैं जिन्होंने अपने भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार किया।

इस प्रसंग को समाप्त करने का वादा शायद अभी किया जा चुका है। बच, दो बातें और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्म-स्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुनाव हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहा (२) चुनाव हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है, जैसे, अन्योक्ति में। गोस्वामीजी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(-) प्रथम पद्धति का अवलंबन ऐसी स्थिति को अंकित करने में होता है जिसके अंतर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है, जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अंतर्गत डाँटने-उपटने से लेकर मारना-पीटना, जलाना, स्त्री-बालको की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन-दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सबका उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामीजी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परीन छार मुँह बायो ।
महिमा मान प्रिय प्रान तैं तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु
पेट खलायो ॥

इसका अर्थ यह है कि तुलसीदासजी सचमुच द्वार द्वार पेट खलाते और डाँट-फटकार सुनते फिरते थे ।

कही राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखत हैं ।

राम सों बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो ?

राम सों खरो है कौन, मो सो कौन खोटो ?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई । दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामीजी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं । इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदासजी बड़े भारी संगन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है । खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतंत्र आलोचना' का ऐसा स्थल और भड़ा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्तमान हैं । एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं—

खीभिबे लायक करतव कोटि कोटि कटु

रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ।

इसपर यदि कोई कह दे कि तुलसीदासजी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है ।

तुलसीदासजी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है 'जानत जहान मन मेरे हूँ गुमान बबो, मान्यो

मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौ” तब प्रेमाधिक्य से वे मुँह लगे हो जाते हैं और कभी कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न राखरे चेतै ।

अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एतै ॥

पर ऐसी गुस्ताखी कभी नहीं करते कि “आपने क़रम भवनिधि पार करौ जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के ?”

देखिए, संसार की अशांति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अंकित करते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब कतहूँ न, नाथ ! नींद भरिसोयो ।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामीजी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है । प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चातक और मीन को पकड़ा है । दोहावली के भीतर चातक की अन्योन्याभिरुचियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं । यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे—“करुणानिधान ! बरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ।” अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाला दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं । इससे प्रस्तुत विषय के संबंध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है; वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है । प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता वन कैसे रह सकेगी—

नव-रसाल-वन-बिहरन-सीला । सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥

शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण

रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबंध-कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी को छोड़ हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। चारणकाल के चंद आदि कवियों ने भी प्रबंध-रचना की है; पर उसमें चरित्र-चित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, बीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंध-धारा केवल प्रेम-पथ का निदर्शन करती गई है। दोनों प्रकार के आख्यानो में मनोविकारों के इतने भिन्न-भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नहीं दिखाई पड़ते जिन्हें हम किसी व्यक्ति या समुदाय-विशेष का लक्षण कह सकें।

रस-संचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है। पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण, ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामीजी ने, कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर, प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नहीं। भिन्न-भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं, उतने और

किसी पात्र के सामने नहीं। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रहे, इससे उनके संबंध में भी यही कहा जा सकता है। सारांश यह कि राम-लक्ष्मण के चरित्रों का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सबसे उज्ज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखाई पड़ता है वह बहुत कृष्ण चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियों में उसके न दिखाए जाने के कारण जितनी अधिक परिस्थितियों में राम-लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं, उससे बढ़कर शील की कसौटी हो ही नहीं सकती।

अर्न्त शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बान्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर रहकर अन्न-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राज्ञसों पर पहले पहल अपना बल आजमाया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रवास के लिये जिनकी धड़क खुलती हमने देखी, उन्हीं को पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए जगत् को भ्रुब्ध करने वाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राज्ञसों को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीर-जीवन का विकास होता है, उनकी परंपरा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयंवर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य दिखाई पड़ा उसका निर्वाह हम

अंत तक पाते हैं। जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गंभीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह ह्रांती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवध-वासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी । जानि राम बनवास एकाकी ।
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू । आप करइ अकटंक राजू ॥

और तुरंत इस अनुमान पर उनकी तयारी चढ़ जाती है—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू । लेइ लपेटि लबा जिमि बाजू ॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होता ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल में उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरंत समझाते हैं—

सुनहु लषन भल भरत सरोखा । विधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥
भरतहि होइ न राज-मद विधि-हरि-हर-बद पाइ ।

कबहुँ कि काँजी-सीकरनि और-सिंधु बिनसाइ ॥

सुमत जब राम लक्ष्मण का बिदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचंद्रजी अत्यंत प्रेम-भरा संदेश पिता से कहने को कहते हैं जिसमें कहीं से खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब विधि सोइ करतव्य तुम्हारे । दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा ? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत नहीं कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना।

**पुनि कहु लषन कही कटु बानी । प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥
सकुचि राम निज सपथ टिवाई । लषन-सँदेसु कहिय जनि आई ॥**

यह 'सकुचि' शब्द कितना भावगर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाज-बद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता है; अपने कुटुम्बी, इष्ट-मित्र या साथी के भेदे आचरण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूत सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बातचीत करते समय भेदे या अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच राम की सुशीलता और लोक-मर्यादा का भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ में पड़ने योग्य था।

सुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बातें तो न कहीं, पर इस घटना का उल्लेख किए बिना उससे न रहा गया। क्यों ? क्या लक्ष्मण से उससे कुछ शत्रुता थी ? नहीं, राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदय में न रख सका। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव अंतःकरण पर ऐसा ही पड़ता है। सुमंत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ; पर उस शील-सौंदर्य की झलक अपने ही तक वह न रख सका, दशरथ को

भी उसे उसने दिखाया । कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतिम मलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास तक पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है । इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रम-विन्यास ।

राम और लक्ष्मण के स्वभाव-भेद का बस एक और चित्र दिखा देना काफी होगा । समुद्र के किनारे खड़े होकर समुद्र से विनय करते करते राम को तीन दिन बीत गए । तब जाकर राम को क्रोध आया और “भय बिनु होइ न प्रीति” वाली नीति की ओर उनका ध्यान गया । वे बोले—

लछिमन बान सरासन आनू । सोखउँ बारिधि बिसिख छसानू ॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा । यह मत लछिमन के मन भावा ॥

जिसके बाण खींचते ही “उठी उद्धि उर-अंतर ज्वाला” उसने पहले तीन दिनों तक हर प्रकार से विनय की । विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अनुत्तल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ । विनयवाली नीति उन्हें पसंद न थी । एक बार, दो बार कह देना ही वे काफी समझते थे ।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महाक्रोध का वर्णन किया है । पर न जाने क्यों वहा तुलसीदासजी इसे बचा गए हैं ।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार बार इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी गलतियाँ दूर हो । वे बार बार उसके मन में यह बान जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भाँ दोष नहीं है । अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिन्ता राम के सिवा और किसको हो सकती है ? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का संस्कार उसपर सब दिन के लिये जम सकता था । गोस्वामीजी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयो जो लौं जियति रही ।

तौं लौं बात मातु सो मुँह भरि भरत न भूलि कही ।

मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही ॥

इतने पर भी कहीं गाँस रह सकती है ?

गार्हस्थ्य जीवन के दांपत्य भाव के भीतर सबसे मनोहर वस्तु है उनकी 'एक भार्या' की मर्यादा । इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है । इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा ।

भक्तो को सबसे अधिक वश में करनेवाला राम का गुण है शरणागत की रक्षा । अत्यंत प्राचीन काल से ही शरणा-प्राप्त की रक्षा करना भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है । इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत में थी । सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् द्वारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विद्रोहपूर्वक उसे मार डाला । उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयंत था । जब सिकंदर ने दंड देने के लिये इन तीनों विद्रोहियों का पीछा किया, तब वरजयंत ने भारत-वासियों के यहाँ आकर शरण ली और बच गया । प्राचीन-ग्रन्थों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है । इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया; क्योंकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर की जाती थी । अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहि, निज अनहित अनुमानि ।

ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहि बिलोकत हानि ॥

शरणागत की रक्षा की चिता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई । सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको ।

बिपत्ति-बँडावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?

सुनु सुमीव ! साँचहू भो सन फेरयो बदन बिधाता ।

ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो आता ॥

गिरि-कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अजुन-सँचाती ।

हैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥

राम के चरित्र की इस उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालि को छिपकर मारना। वाष्मीकि और तुलसी-दासजी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही संपूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित्र भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्त्वसूचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई-बंधु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख-दुःख भोगकर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल-चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है ? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव-जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोक-यावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की वन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृंखला संघटित करनेवाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। नानिहाल से लौटने पर ही उनके

शील-स्वरूप का स्फुरण आरंभ होता है। नानिहाल में जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक में अणु-मात्र के योग के संदेह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना संबंध—नाम मात्र का सही—समझकर वे एकदम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़नेवाली माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिये उसकी ओर से मातृभाव हट सा जाता है। ऐसा उज्ज्वल अंतःकरण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप बिना शांति-शील-समुद्र राम के संमुख हुए दूर नहीं हो सकता। वे चट विरह-व्यथित पुरवासियों को लिए-दिए चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अंतःकरण भरी सभा में लोकादर्श राम के संमुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक लज्जा-वश किया ? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा संताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्म-ग्लानि ही उनकी सात्त्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्म-ग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्त्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरतजी कोई बुरी बात अपने मन में लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी ? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से

क्या होता है ? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं । आत्मपक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है । हमें अपनी अंतर्दृष्टि भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए । जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उस मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते । यदि हम वस्तुतः सात्त्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्त्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं । हम अपनी सात्त्विकशीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायें, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियों के बीच दस-पाँच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायेंगे । ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है । रामायण, भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं—

**मिटइहिं पाप-प्रपंच सब अखिळ-अमंगल-भार ।
लोक सुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥**

जिन भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय से धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश और परलोक में सुख दोनों क्या न प्राप्त हो ।

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोक-भीक्ष्णता, स्नेहा-व्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं । राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्ति-वश 'पाहि ! पाहि !' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं । सभा के बीच में जब वे अपने हृदय की बात निवेदन करने लगे होते हैं, तब आतुस्नेह उमड़ आता है,— बाल्यावस्था की बातें आँखों के सामने आ जाती हैं—इतने में ग्लानि आ दबाती है और वे पूरी बात भी नहीं कह पाते हैं—

पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े । नीरज-नयन नेह-जल बाढ़े ॥
 कहब मोर मुनिनाथ निबाहा । एहि तें अधिक कहौं मैं काहा ?
 मैं जानौं निज-नाथ-सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
 मो पर कृपा सनेह बिसेखी । खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ॥
 सिसुपन तें परिहरेउ न संगू । कबहूँ न कीन्ह मोर मन-भंगू ॥
 मैं प्रसु-कृपा-रोति जिय जोही । हारेहु खेल जितावहिं मोही ॥
 महाँ सनेह-सकोच-बस सनमुख कहेउ न बैन ।

दरसन-रूपत न आजु लगि प्रेम-पियासे नैन ॥

बिधि न सकेहु सहि मोर दुलारा । नीच बीच जननी मिस पारा ॥
 यहउ कहत मोहि आजु न सोभा अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?
 मातु मंद, मै साधु सुबाली । उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
 फरइ कि कोदव बालि सुसाली । मुकुता प्रसव कि संबुध ताली ॥
 बिनु समुझे निज-अध-परिपाकू । जारेउं जाय जननि कहि काकू ?
 हृदय हेरि हारेउं सब ओरा । एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥
 गुरु गोसाँई, साहिब सिय-रामू । लागत मोहिं नीक परिनामू ॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला-बुरा कहने गया । “अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?” जिसे दस भले आदमी—पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच नहीं—साधु और शुचि माने, उषी की साधुता और शुचिता किमी काम की है । इस ग्लानि के दुःख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से होती है कि गुरु और स्वामी वशिष्ठ तथा राम ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आशा ऐसे दृढ़ आधार पर थी कि पूर्ण रूप से फलवती हुई । भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए । राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी ।

अब सत्य और प्रेम के विरोध में दोनों की एक साथ रक्षा करनेवाले परम यशस्वी महाराज दशरथ को लीजिए। वे राम को वनवास देने में सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा का पालन हृदय पर पत्थर रखकर—उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्य-भाव को दबाकर—करते हुए पाए जाते हैं। इसके उपरान्त हम उन्हें स्नेह के निर्वाह में तत्पर और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं। सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को वनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्व है। नियम और शील धर्म के दो अंग हैं। नियम का संबंध विवेक से है और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अंतर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अंतर्गत हैं। नियम के लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाषण्डी भी नियम का पालन कर सकता है—आरंभ पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिये सात्त्विक हृदय चाहिए। कभी कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एक को राह देने से दूसरे का उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा सा झूठ बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमें झूठ बोलने की प्रेरणा कर रही है; दूसरी ओर 'नियम' हमें ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शील-साधन के सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नहीं है, वहाँ उभयपक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

दशरथ के सामने दोनों पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यो कहिए कि नियम की ओर का पलड़ा कुछ झुकता हुआ था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्र-वियोग का दुःख दशरथ के ही ऊपर पड़नेवाला था (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए)।

इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बना । उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख की परमावस्था को पहुँचकर स्नेह की भी रक्षा की । इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील, दोनों की रक्षा हो गई । रामचंद्रजी भरत को सम्झाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम-पनु लागी ॥

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोक-पक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की यही सर्वोत्तम रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है । वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखानेवाला ग्रंथ नहीं है । यह देखकर बार बार प्रसन्नता होती है कि आर्य्य-धर्म का वह संपुट हिंदी कवियों में से एक ऐसे महात्मा के हाथ में पड़ा जिसमें उसके उद्घाटन की सामर्थ्य थी । देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणों में ही कहला दिया ।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का महत्त्व ही सामने आता है । पर कथोपकथन रूप में जो कवि-कल्पित चित्रण है, उसमें वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने दशरथ की अंतर्दृष्टि का कुछ और भी आभास दिया है । विश्वामित्र जब बालक राम-लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दशरथ ने देने में बहुत आगा-पीछा किया । वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रों को देना नहीं चाहते थे । वृद्धावस्था में पाए हुए पुत्रों पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था । वे मुनि से कहते हैं—

**चौथे पन पाएउँ सुत चारी । बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी ॥
माँगहु भूमि धेनु बन कोसा । सरबस देउँ आजु सह रोसा ॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नहिं । सोउ मुनि ! देउँ निमिष एक माहीं ॥
सब सुत प्रीय प्रान की नाई । राम देत नहिं बनइ गोसाईं ॥**

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्सल्य स्नेह ऐसा न अ-क्ति के साधारण कारण वश उसकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते । मुनि के साथ

जो उन्होंने बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अज्ञ-शिक्षा की आशा से ।

उस वृद्धावस्था में वे अपनी छोटी रानी के वश में थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई । वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहिव तोर प्रिया केहि कीन्हा । केहि दुइ सिर, केहि जमचह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करहु नरेसू । कहु केहि नृपहि निकासउ देसू ॥
जानास मोर सुभाउ बरोरू । मन तव आनन-चंद-चकोरू ॥
प्रिया ! प्रान, सुत, सरबस मोरे । परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबको कैकेयी के वश में कहना स्वयं राजा का कैकेयी के वश में होना अभिव्यंजित करता है । एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिये, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिये, किसी राजा को देश से निकालने के लिये तैयार होना स्त्री होने का ही परिचय देना है । कैकेयी के सामने जाने पर न्याय और विवेक थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लेते थे । वाल्मीकिजी ने भी इसी प्रकार की बातें उस अवसर पर दशरथ से कहलाई हैं ।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दांपत्य-विधान का वह दोष भी झलकता है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया । आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अंत में एक ऐसा बे-मेल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है । एक में प्रेम रहता है, दूसरे में स्वार्थ । अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है । एक तो प्रेम-वश दूसरे के सुख-संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा उसके सुख-संतोष की वही तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ-साधन होता है । राम ने एक

भार्या' की मर्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य और सौंदर्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी परिस्थिति भी लोक को दिखाई। कैकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्ध-स्थल में जाकर पहिए में उँगली लगाई थी और उसके बदले में दो वरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जंगलो-पहाड़ों में मारी मारी फिरी, और उस मारे मारे फिरने को ही उन्होंने अपने लिये बड़ा भारी वरदान समझा। अंत में जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने में समर्थ पाते हैं जो दशरथ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये कहा था। दशरथ एकमात्र कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये किसी राजा को बिना अपराध देश से निकालने के लिये तैयार हुए थे। पर राम प्रजा को प्रसन्न कर देने के लिये बिना किसी अपराध के प्राणों से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए। दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालने, पर राम ने एक धोबी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ भी अंतर न पड़ा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राजधर्म की कठोरता ही समझा। यह नहीं समझा की राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामीजी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्त्विक और तामस दोनों आते हैं। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श चित्रण के भीतर आवेंगे, तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्त्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेकरूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान ये सात्त्विक आदर्श हैं; रावण तामस आदर्श है।

सात्त्विक आदर्शों का वर्णन हो चुका। हनुमान् के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक-भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व-परिचय के राम को देखते ही उनके शील, सौंदर्य और शक्ति के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले-पहल आत्म-समर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान् ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्ति के आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गए और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई। इसी राम-भक्ति के प्रभाव से हनुमान् सब राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक में जो जो गुण चाहिए, सब हनुमान् में लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि स्वामी के कार्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें निरलसता और तत्परता हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करने की चिन्ता कर ही रहे थे, अंगद फिरने का संशय करके आगा पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लौंघ गए। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान् ही लाए और ओषधि के लिये भी पवन-वेग से वे ही दौड़े। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य-साधन में उसे अपने मान-अपमान का ध्यान न रखना चाहिए। अशोक-वाटिका में से पकड़कर राजस उन्हें रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इसपर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगद की तरह “हूँ तब दसन तोरिबे लायक” वे नहीं कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य में हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य बिगाड़ना उनका कर्तव्य नहीं। वे रावण से साफ़ कहते हैं—

मोहि न कुछ बाँधे कर लाजा । कोन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा ॥

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारनेवालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामीजी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन

करके, जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह माँगती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे। किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगों की हड्डियों से दक्खिन का जंगल भरा पड़ा था। चंगेजखॉ और नादिरशाह तो मानों लोगों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिये आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज्द और अहमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श में धर्म के लेश का अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य के साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनों तक पृथ्वी पर रहा। अतः उसमें धर्म का कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता में भी कोई संदेह नहीं है। भाई, पुत्र जितने कुटुंबी थे, सबके मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की सुविधा के लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाए रखते हैं। लोकधर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुःख न पहुँचे; यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगो को पहुँचता है, उससे

कम लोगों को । सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज में उस शक्ति का सदुपयोग करनेवाला धर्म नहीं था । रावण पंडित था, तपस्वी था, राजनीति-कुशल था, धीर था, वीर था; पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया । उसके मरने पर उसका तेज रास के मुख में समा गया । सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् में विलीन हो गई ।

अब सामान्य चित्रण लीजिए । राम के साथ लक्ष्मण का शील-निरूपण कुछ हो चुका है । यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे । सीता को जब वे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ने गए थे, तब वे करुणाभाव में मग्न थे । उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी । वे राम के बड़े भारी आज्ञाकारी थे । वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे । क्रोध उन्हें कटु वचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख देखते ही वे चुप हो जाते थे । सीता के वनवास की कठोर आज्ञा राम के मुख से सुनते ही वे सूख गए, करुणा से विह्वल हो गए । पर जी कड़ा करके वे सीता को पहुँचा आए । आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए । पर यह नियम भी ऐसे अवसरों पर उन्होंने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन में उन्होंने अधिक हानि देखी और उल्लंघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा । इन सब बातों के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर ही रखा है ।

गृह-नीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश करानेवाले दिखाई पड़ते हैं पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्रायः नहीं के बराबर हो जाती है । गोस्वामीजी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है । विभीषण राम-भक्त थे, अर्थात् सार्विक गुणों पर

भद्धा रखनेवाले थे। वे राम के लोक-विभूत शील, शक्ति और सौंदर्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नहीं मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण में यह कहते हुए गए—

राम सत्य-संकल्प प्रभु समा काल-वस तोयि।

मैं रघुवीर-सरन अब, जाऊँ, देहु जनि खोरि॥

लोभ-वश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठकर क्रोध-वश राम से जा मिले हो। इस संदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु-सरिस भलेहि मोहि मारा।

राम भजे हित, नाथ तुम्हारा॥

इस स्थल पर गोस्वामीजी का चरित्र-निर्वाह-कौशल फलकता है। यदि यहाँ थोड़ी सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूप में विभीषण का चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामीजी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दर्जे की थी। वह इतनी बड़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

१ वाल्मीकि का वर्णन भी इसी प्रकार है।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दर्जे का है। न उनकी भलाई ही किसी भारी हृद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही। राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य-साधन करने के पहले ही बड़े भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बंदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नहीं बनेगा) होता है, वे सुख-विलास में फँसकर राम का कार्य भूल गए। जब हनुमान् ने चेताया, तब वे घबराए और अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है, वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है; जैसे स्त्रियों की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्या-कांड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिंदी कवि में नहीं पाते। नीची श्रेणी की स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिए उसे कुछ न कुछ चाहिए। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यों ही, बिना कारण, ढूँढकर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियों के बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनों में देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गए हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियों की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाक के लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं। मंथरा का इसी अवस्था में हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौशल्या अच्छी नहीं लगती; कैकेयी अच्छी लगती है^१।

१ वाल्मीकिजी ने उसे "कैकेयी के मातृकुल की दासी" कहकर कारण का पूरा संकेत कर दिया है। इस प्रकार की दासी का व्यवहार घर के और लोगों के साथ कैसा रहता है, यह हिंदू गृहस्थ मात्र जानते हैं। पर गोस्वामीजी ने कारण का संकेत न देकर उसकी प्रवृत्ति को मूर्ख स्त्रियों की सामान्य प्रवृत्ति नारिचरित—के अंतर्गत रखा है।

राम के अभिषेक की तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिल्कुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

उतइ देइ नहि, लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू ॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे ॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापनि। छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था, यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिए बिल्कुल नई है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंग से कहे, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दुःख के वेग का भार भी दबाए हुए है। इतने में “गाल बड़ तोरे” इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई ?

“किसका बल पाकर गाल करूँगी ?” इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल उधरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की कटुता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एकबारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि “सब लोग कुशल से तो हैं ?” इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

**रामहिं छाँकि कुशल बेहि आजू ? जिनहिं जनेसु देह जुवराजू ॥
भपउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन । देखत गरब रहत उर नाहिन ॥**

किसी को क्रमशः अपनी भाव-पद्धति पर लाना, थोड़ा-बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचार-पद्धति पर लाने के लिये क्रमशः प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न करने के लिये मंथरा सपत्नी को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना ब्रियों में स्वाभाविक होता है। सपत्नी के घमंड की बात जी में आने पर कहाँ तक ईर्ष्या न उत्पन्न होगी ? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्य-भाव भी तो कुछ जगाना चाहिए। इस विचार से मंथरा कहती है—

पूत बिदेसु न सोच तुम्हारे । जानति हहु बस नाहु हमारे ॥

इतना होने पर भी राजा की कुटिलता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेयी में आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँ से आवेगी ? कैकेयी के मन में यह बात जम जानी चाहिए कि भरत जान-बूझकर हटा दिए गए हैं। इसके लिये ये वचन हैं—

नौद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप-कपट-चतुराई ॥

इस पर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसर पर ब्रियों के मुख से निकलते हैं।

**एकहि बार आस सब पूजी । अब कछु कहव जीभ कर दुजी ॥
फोरइ जोगु कपार अभागा । भलेउ कहव दुख रउरेहि लागा ॥
कहहि शूँठ फुर बात बनाई । ते प्रिय तुम्हहि, कहइ मैं माई ॥**

हमहुँ कहब अब ठकुरसोदाती । नाहिं त मौन रहब दिन-राती ॥
करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा । बषा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा ॥

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ, उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नहीं करता, वह अच्छा भी कहती है तो लोगो को बुरा लगता है। विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य का दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न कराने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग विशेषतः ब्रियाँ, स्वभावतः काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सच्चाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्रायः 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है; जैसे "हमें क्या करना है ? हमने आपके भले के लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता।" मंथरा के कहे हुए खेद-व्यंजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही भगवा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है—

कोउ नृप होउ हमहि का हानी । चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ॥
जारइ जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है; पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ । तुम कहँ बिपति-बीज बिधि बयऊ ॥
रेख खँचाइ कहँ बल भस्मी । भामिनि भइहु दूध कै माखी ॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई । तौ घर रहहु, न आन उपाई ॥

इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न होगी ? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं

होती है। जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य को रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं; सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न भिन्न मनो-विकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतःकरण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरो । दाहिनि आँख नित फरकइ मोरो ॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने । कहाँ न तोहि मोह-बस अपने ॥
काह करौं सखि ! सूख सुभाऊ । दाहिन-बाम न जानौं काऊ ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु आई । जियत न करब सवति-सेवकाई ॥
अरि-बस देव जिआवस जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही ॥

इस दशा में मंथरा उसे संभालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा बैधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जे राउर अति अनमल ताका । सोइ पाइहि यह फलु परिपाका ॥
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची । भरल भुआळ होहि यह साँची ॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामीजी न मानव-अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती।

बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं। अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिढ़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानो समाज ने बालको ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्योंही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्योंही उनकी बाल-प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास हमें मिलता है। परशुराम की आकृति जब अत्यंत भीषण और

वचन अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग्य वचन न निकलकर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाते जाते, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुवर ! परसु देखावहु मोही । बिप्र बिचारि बचेउ नृप-द्रोही ॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े । द्विज देवता घरहिँ के बाढ़े ॥

गोस्वामीजी ने लक्ष्मण की इस बाल-वृत्ति को लोक-व्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता में रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचंद्रजी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि को नाई । पद-रज सिर सिंसु धरत गोसाईं ॥
जमहु चूक अनजानत केरी । बहिय बिप्र उर कृपा घनेरी ॥

बाह्य-दृश्य-चित्रण

यहाँ तक तो गोस्वामीजी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का कुछ वर्णन हुआ। अब पदार्थों के बाह्य स्वरूप के निरीक्षण और प्रत्यक्षीकरण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि ये दोनों बातें भी कवि के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। प्रबंधगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील-स्वरूप को, उसके अंतस् की प्रवृत्तियों को, प्रत्यक्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार उसके अंग-सौष्ठव आदि को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यहाँ तक नहीं, प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने और प्रतिष्ठित करने लिए उसे वन, पर्वत, नदी, निर्भर आदि अनेक पदार्थों को ऐसी स्पष्टता के साथ अंकित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक का अंतःकरण उनका पूरा बिंब ग्रहण कर सके। इस संबंध में पहले ही यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का

सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी-बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदास जी में ही।

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता, बिंब-ग्रहण कराना भी होता है। यह बिंब-ग्रहण किसी वस्तु का नाम ले लेने मात्र से नहीं हो सकता। आसपास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा। “कमल फूले हैं”, “भौरे गूँज रहे हैं”, “कोयल बोल रही है” यदि कोई इतना ही कह दे तो यह चित्रण नहीं कहा जायगा। ‘लहराने हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल निकले हैं जिनके मुँहे हुए छोरों पर रक्ताभ कमलदल छितराकर फैले हुए हैं’ इस प्रकार का कथन चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। यह चित्रण वस्तु और व्यापार के सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलंबित होता है। आदिकवि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करानेवाली समग्र बाह्य सृष्टि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिन्दी के कवियों के तो हिस्से में ही न आई। उन्होंने तो कुछ इनी गिनी वस्तुओं का नाम ले लिया, बस पुरानी रस्म अदा हो गई। फिर भी कहना पड़ता है कि यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया कहीं दिखाई पड़ती है, तो तुलसीदासजी में।

चित्रकूट, पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामीजी राम-लक्ष्मण को ले गए हैं; पर उनके राम-लक्ष्मण में प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं है जो वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में है। वाल्मीकि के लक्ष्मण पंचवटी पर जकर हेमन्त ऋतु की शोभा का अत्यंत विस्तीर्ण और सूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके एक एक बोरे पर ध्यान ले जाते हुए अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन करते हैं; पर गोस्वामीजी के लक्ष्मण जैठ-कर राम से ‘ज्ञान, विराग, मान्य और भक्ति’ की बात पूछते हैं। वाल्मीकि

के लक्ष्मण तो जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक का एक एक व्योरा इस प्रकार आनंद से सामने ला रहे है—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रकृतिभ्रशाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यंततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसा ।
हिमाद्रेवालुकैस्तीरैः सरिता भाति साम्प्रतम् ॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकैसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकरः ॥

और तुलसीदासजी के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि—

गो गोचर जहँ लगी मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥

इतना होने पर भी गोस्वामीजी सच्चे सहृदय भावुक भक्त थे; इस जगत के 'सियारासमय' स्वरूपों से वे अपने हृदय को अलग कैसे रख सकते थे ? जब कि उनके सारे स्नेह-संबंध राम के नाते से थे, तब चित्रकूट आदि रम्य स्थलों के प्रति उनके हृदय में गूढ़ अनुराग कैसे न होता, उनके रूप की एक एक छटा की ओर उनका मन कैसे न अकर्षित होता ? जिस भूमि को देखने के लिये उत्कण्ठित होकर वे अपने चित्त से कहते थे—

अथ चित्त चेत चित्रकूटहि चलु ।

भूमि बिलोकु राम-पद अंकित बन बिलोकु रघुवर-बिहार-थलु ॥

उसके रूप की ओर वे कैसे ध्यान न देते ? चित्रकूट उन्हें कैसे अच्छा न लगता ? गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है । यह वर्णन शुष्क प्रथा-पालन नहीं है, उस भूमि की एक एक वस्तु के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्गार है । उसमें कहीं कहीं प्रचलित संस्कृत कवियों का सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पायी जाती है; जैसे—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रंगमनो सुगनि ।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-सुनि-भृंगनि ॥
सिखर-परस घन घटहि मिलति बग-पाँति सो ब्रह्मि कवि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥
जल-जुत विमल सिलनि मलकत नभ वन-प्रतिबिम्ब तरंग ।
मानहुँ जग-रचना विचित्र बिलसति बिराट अंग अंग ॥
मंदाकिनिहि मिलत भरना झरि झरि भरि भरि जल आछे ।
तुजसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे ॥

इस दृश्य की संश्लिष्ट योजना पर ध्यान दीजिए । इसमें यों ही नहीं कह दिया गया है कि 'बादल छाए हैं' और 'बगलो की पाँति उड़ रही है' । मंद मंद गजरते हुए काले बादल गेरु से रंगे (लाल) शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बकपंक्ति दिखाई दे रही है । केवल 'जलद' न कहकर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है । वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिंब-प्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई थी, वह रक्ताभ शृंग के योग में और भी बढ़ गई और बगलो की श्वेत पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया । यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृंग और बकपंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता । तीनों का अलग अर्थ-प्रहण मात्र हो जाता, बिंब-प्रहण न होता । इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिंब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है । अलंकारों पर 'वाह वाह' न कहने पर शायद-अलंकार-प्रेमी लोग नाराज हो रहे हों; उनसे अत्यंत नम्र निवेदन है कि वहाँ विषय दूसरा है ।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामीजी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया । गोस्वामीजी हिंदी-कवियों की परंपरा से लाचार थे ।

कहीं कहीं इस प्रकार की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखाई पड़ता है, उसे ऐसा समझिए कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आप से आप हो गया है। तुलसीदासजी के पहले तीन कैंबे के कवि हिंदी में हुए थे—एक तो वीरगाथा गानेवाले पुराने चापण; दूसरे प्रेम की कहानी कहनेवाले मुसलमान कवि; और तीसरे केवल वंशीवट और यमुना-तट तक दृष्टि रखनेवाले पद गानेवाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की दृष्टि विश्वविस्तृत नहीं थी। भक्तिमार्ग के संबंध से तुलसीदासजी का सान्निध्य सूरदास आदि तीसरे वर्ग के कवियों से ही अधिक था पर उक्त वर्ग में सबसे श्रेष्ठ कवि जो सूरदासजी हैं, उन्होंने भी स्थला और ऋतुओं आदि का जो कुछ वर्णन किया है, वह एक दूसरे भाव के उद्दीपन की दृष्टि से। वर्णन की शैली भी उनकी वही पिछले खेबे के कवियों की है जिसमें गिनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख मात्र अलंकारों से लदा हुआ होता है। ऐसी अवस्था में भी गोस्वामीजी को लेखनी से जो कहीं कहीं प्राचीन कवियों के अनुरूप संश्लिष्ट चित्रण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता है और उन्हें हिंदी के कवियों में सबसे ऊँचे ले जाता है।

पर गोस्वामीजी के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर शब्द सौंदर्य प्रधान ही हैं जिनमें वस्तुओं का परिगणन मात्र है; जैसे—

(क) भरना भरहि सुधा सम बारी। त्रिबिध-ताप-हर त्रिबिध बयारी॥
 बिटप-बेलि-चन-अगनित जाती। फल-प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
 सुंदर सिला सुखद तरु-झाँहीं। जाइ बरनि बन-झवि केहि पाहीं॥
 सरनि सरोरुह जल-बिहग कूजत, गुंजत भृंग।
 बैर-बिगत बिहरत बिपिन भृंग बिहंग बहुरंग॥

(ख) बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति।
 बंद-मूल जल-थल-रुह अगनित अनवन भाँति॥

मंजुल मंजु, बकुल-कुल, सुर-तरु, ताल-तमाल ।
कदलि कदंब सुर्वपक पाटल, पनस रसाल ॥
सरित-सरन सरसीरुह फूले नाना रंग ।
गुंजत मंजु मधुपगन' कूजत विविध बिहंग ॥

पिछले कवियों की शैली पर वर्णन करने में भी वे सबसे बड़े-बड़े हैं ।
यह चित्रकूट-वर्णन देखिए—

फटिक-सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरति छवि बितान की ।
मंदाकिनी-तटिनि-तीर, मंजुल-मृग-बिहंग-भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की ॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरभर भर,
जल-कन, छन छाँह, छन प्रभा न भान की ।
सब ऋतु ऋतुपति-प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंच-बान की ॥

इस वर्णन से इस बात का इशारा मिलता है कि गोस्वामीजी ऋतु-वर्णन करने में रीति-ग्रंथों में गिनाई वस्तुओं तक ही नहीं रहते हैं—वे अपनी आँखों से भी पूरा काम लेते हैं । “ऋतुपति” की शोभा के भीतर केवल रीति पर चलनेवाले मोर नहीं लाया करते; पर तुलसीदासजी ने उनकी बोली नहीं बंद की । केवल पद्धति का अनुसरण करनेवाले कवि वर्षाकाल में कोकिल को मौन कर देते हैं । पर तुलसीदास अपने कानों की कहाँ तक उपेक्षा करते ? वे गीतावली के उत्तर-कांड में, हिंडोले के प्रसंग में, वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमग जनु अनुराग ।
पिक, मोर, मधुप, चकोर चातक सोर उपवन बाग ॥

उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं,

पर उनमें वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख बहुत पूर्ण है। चित्रकूट की वस्तुओं और व्यापारों को लेकर उन्होंने होली का उत्सव खाड़ा किया है—

आजु बन्धो है बिपिन देखो रामधीर ।

मानो खेलत फागु मुद मदनधीर ॥

बट बकुल कदंब पनस रसाल ।

कुसुमित तरु-निकर कुरब तमाल ॥

मानो बिबिध बेष धरे छैल-जूथ ।

बिच बीच लता-ललना बरूथ ॥

पनबानक निर्भर, अलि उपंग ।

बोलत पारावत मानौ डफ मृदंग ॥

गायक सुक कोकिल, झिल्लि ताल ।

नाचत बहु भाँति बरहि मराल ॥

पर उनकी यह उत्प्रेक्षा भी उल्लास-सूचक है। इसी प्रकार भागवत के दृष्टांत—उदाहरण—लेकर उन्होंने किष्किंधाकांड में वर्षा और शरत् का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टांतों के सामने दबे से हैं। श्रोता या पाठक का ध्यान वर्ण्य वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। फिर भी जहाँ जहाँ स्थल-वर्णन का अवसर आया है, वहाँ वहाँ उन्होंने वस्तुओं और व्यापारों का प्रचुर उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। केशव-दास के समान नहीं किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस “सब जाति फटी दुख की दुबरी” करके और अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने—

सोभत दंडक की रुचि बनी । भाँतिन भाँतिन सुंदर घनो ॥

सेव बड़े नृप को जनु लसै । श्रीफल भूरि भाव जहँ लसै ॥

बेर भयानक सी अति लगै । अर्क-समूह जहाँ जगमगै ॥

अब कहिए, इसमें “श्रीफल” “बेर” और “अर्क” पदों के श्लेष के सिवा और क्या है? चित्रण क्या, यह तो वर्णन भी नहीं है। इसमें

“हृदय” का तो कहीं पता ही नहीं है। क्या “बेर” को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देख प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर ? इससे तो साफ मालूम होता कि पंचवटी के वन दृश्य से केशव के हृदय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार के भाव का उदय नहीं हुआ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रखा है; जैसे, हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि और दक्षिण के वर्णन में एला, लवंग, ताल, नारिकेल, पुंगीफल आदि का उल्लेख है। गोस्वामीजी ने भी देश का ध्यान रखा है। चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। पर केशवदासजी मगध के पुराने जंगल के वर्णन में, वृक्षों के जो जो नाम याद आए हैं, उन्हें अनुप्रास की बहार दिखाते हुए जोड़ते चले गए हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर ।

मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर ॥

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै ।

सारी सुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै ॥

केशवदासजी ने इस बात का कुछ भी विचार न किया कि एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में होते भी हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी रूप-प्रत्यक्षीकरण में बहुत प्रयोजनीय है। पर यह हम गोस्वामीजी को छोड़ और किसी में पाते ही नहीं। और कवियों ने केवल अनुभाव के रूप में भ्रू-भंग आदि का वर्णन किया है; पर लक्ष्य साधने, किसी का मार्ग देखने आदि व्यापारों में जो स्वाभाविक मुद्रा मनुष्य की होती है, उसके चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। गोस्वामीजी ने ऐसा चित्रण किया

है । देखिए, आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचंद्र का कैसा चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन-सायक जोरे ।

खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे ॥

जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गोंहैं तफत सुभौंह सकोरे ॥

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छवि देखिए—

जटा-मुकुट, कर सर-धनु, संग मरीच ।

चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच ॥

एक और चित्र देखिए । शबरी की छोपड़ी की ओर राम आनेवाले हैं । वह उनके लिये मीठे मीठे फल इकट्ठे करके कभी भीतर जाती है, कभी बाहर आकर भौं पर हाथ रखे हुए मार्ग की ओर ताकती है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिभ हित सब आनि कै ।

सुंदर सनेह-सुधा सहज जनु सरस राखे सानि कै ।

छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै ॥

निशाना साधने में भौं सिकोड़ना और रास्ता देखने में माथे पर हाथ रखना कैसी स्वाभाविक मुद्राएँ हैं ।

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामीजी ने अत्यंत परिमार्जित रुचि का परिचय दिया है । वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाये हैं जो भद्दे या कुरुविपूर्ण कहे जा सकें । उदाहरण के लिये भोजन का दृश्य लीजिए । 'मानस' में दो प्रसंगों में इसके अवसर आए हैं—राम की बाल-लीला के प्रसंग में और विवाह के प्रसंग में । दोनों अवसरों पर उन्होंने भोजन के दृश्य का विस्तार नहीं किया है । दशरथ भोजन कर रहे हैं, इतने में—

धूसर धूरि भरे तनु आए । भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥

भोजन करत चपल चित इस-उत अवसर पाइ ।

भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ ॥

भोजन का यह उल्लेख बास-बीक और बास-बपसता का विग्रह करने के लिये है। पकवानों के नाम गिनाते हुए भोजन के वर्णन का विस्तार उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर भी भोजन का वर्णन नहीं है। किसी भई रुचिवाले को यह बात खटकती और उसने उनके नाम पर रामकलेवा बना डाला।

अब सूर और जयसी को देखिए। वे लड्डू, पेड़ा, जलेबी, पूरी, कचौरी, बड़ा, पकौड़ी, मिठाइयो और पकवानों के जितने नाम याद आए हैं—या लोगों ने बताए हैं—सब रखते चले गए हैं। जयसी तो कई पृष्ठों तक इसी तरह गिनाते गए हैं—

लुचुई, पूरि सोहारी पूरी। इक तौ ताती औ सुठि कौबरी ॥
भूँजि समोसा घी महुँ काढ़े। लौंग भिरिच तेहि भीतर ठाढ़े ॥

इसी प्रकार चावलों और तरकारियों के पचीसों नाम देख लीजिए। सूरदासजी ने भी यही किया है। 'नंद बबा' कृष्ण को लेकर खाने बैठे हैं। उनके सामने क्या क्या रखा है, देखिए—

लुचुई, लपसो, सद्य जलेबी सोइ जंबहु जो लगै पियारी ॥
घेवर, मालपुत्रा, मोतिलाइ सुघर सजूरी सरस सँवारी ॥
दूध-बरा, उत्तम दधि, बाटी, दास मसूरी की रुचि न्यारी ॥
आखो दूध औटि बौरी को मैं ल्याई रोहिणि महतारी ॥

इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि भोताओं के मुँह में पानी आ जाय। भोजन का ऐसा दृश्य सामने रखना साहित्य के मर्मज्ञ आचार्यों ने भी काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझा था; इसी से उन्होंने नाटक में इसका निषेध किया था—

दूराह्वानं, वधो, युद्धं, राज्यदेशादिविप्लवः ।

विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥

कुछ हिंदी कवियों ने बहुत सी वस्तुओं की लंबी सूची देने को ही वर्णन-पद्धति समझ लिया था। इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न-भिन्न व्यवसाय

केतनों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते थे। दोनों का प्रसंग आया तो बस 'ताजी, अरबी, अबलक, मुस्की' गिना चले। हथियारों का प्रसंग आया तो सैकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है। महाराज रघुराजसिंह ने तो यह समझिए कि अपने समय के राजसी ठाट और जलूस के सामान गिनाने के लिये ही 'रामस्वयंवर' लिखा। इस प्रणाली का सबसे अधिक अनुसरण सदन ने किया है। उनके 'सुजान-चरित्र' को तो हथियारों, घोड़ों, कपड़ों, सामानों की एक पुस्तकाकार नामावली समझिए।

गोस्वामीजी को यह हवा बिल्कुल न लगी। इस अनर्गल विधान से दूर रहकर उन्होंने अपने गौरव और गांभीर्य की पूर्ण रक्षा की।

वस्तु-प्रत्यक्षीकरण के संबन्ध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुरसी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाग के अंतर्गत होती हैं अथवा उनसे संबद्ध होती हैं। अतः 'काव्य एक अनुकरण कला है' यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए। कवि और चित्रकार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है वह कवि का साधन है। पर इसमें संदेह नहीं कि यह साधन सबसे आवश्यक और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

अलंकार-विधान

भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक और विभावों का जो स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण गोस्वामीजी में प्राया जाता है उसका दिग्दर्शन तो हो चुका। अब जरा उनके अलंकारों की बानगी भी देख लेनी चाहिए। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होवेवाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेंगे कि वे कहाँ तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र है। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिस अलंकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेंगे और जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कह सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कही सादृश्य-योजना का उद्देश बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। 'नीलगाय गाय के सदृश होती है' इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार 'एकरूप तुम आता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहि मारेउँ सोऊ ॥' में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल 'वस्तुत्व' या 'प्रमेयत्व' जिसमें हो, वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होनी

१ साधर्म्य कविधर्मप्रसिद्धं कांतिमत्वादि न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि आद्यम्।

—विद्याधर।

चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता। हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकर टुकड़े के ऊपर निकले हुए चंद्रमा को देख यदि कोई कहे कि 'भावो ऊँट की पीठ पर घंटा रखा हुआ है' तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर—ही वाह वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चंद्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौंदर्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रखा हुआ घंटा कोई ऐसा सुंदर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौंदर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामीजी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं—
 (१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक, (२) वस्तुओं के रूप (सौंदर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक अलंकार

अशोक के नीचे राम के विरह में सीता को चाँदनी धूप सी लगती है—

डहकु न है रँजियरिया निसि नहिं घाम ।

जगत जरत अस लागु मोहि बिनु राम ॥

यह निश्चयालंकार सीता के विरह-संताप का उत्कर्ष दिखाने में सहायक है। इसी विरह-संताप की प्रवृद्धता असिद्धास्पद हेतुप्रेक्षा द्वारा भी दिखाई गई है—

जेहि बाटिका बसति सहँ खग मृग तजि तबि भजे पुरावन भौन ।
 स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु तेहि मग पग न धर्यो तिहुँ पौन ॥

मरते हुए जटायु से राम कहते हैं कि मेरे पिता से सीताहरण का समाचार न कहना ।

सीता-हरण, तात, जनि कहेव पिता सन जाइ ।

जो मैं राम तो कुछ सहित कहहि दसानन आइ ॥

यह 'पर्यायोक्ति' राम की धीरता और सुशीलता की व्यंजना में कैसी सहायता करती हुई बैठी है । राम सीता-हरण के समाचार द्वारा अपने पिता को स्वर्ग में भी दुखी करना नहीं चाहते । साथ ही अपनी धीरता भी अत्यंत संकोच और शिष्टता के साथ प्रकट करते हैं । 'राम' कैसा अर्थांतर-संक्रमित पद है ।

राम की चढ़ाई का हाल सुनकर इतनी घबराहट हुई, इतनी आशंका फैली कि 'बसत गढ़ लंक लंकेश रावन अछुत लंक नहि खात कोउ भात रौण्यो ।' यहाँ आशंका को व्यक्त करने में लक्षणा और व्यंजना के मेल में 'विभावना' कितना काम दे रही है ।

देखिए, यह रूपक रतिभाव की अनन्यता दिखाने के लिये कैसे दृश्य ऊपर से ला रहा है—

दृष्टि तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास ।

बपुष बारिद बरषि छवि-जल हरहु लोचन प्यास ॥

एक नई उपमा देखिए । जब कोई राजा धनुष न तोड़ सका, तब जनक ने ज्यो से भरे उत्तेजक वचन कहे जिन्हें सुनकर लक्ष्मण को तो अमर्ष हुआ, पर अभिमानी राजाओं की यह दशा हुई—

जनक बचन छुए बिरवा लजारु के से

बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै ।

इस उपमा में "लज्जा" का उत्कर्ष भी है और क्रिया भी ठीक बिंब-प्रतिबिंब रूप में है; अतः यह बहुत ही अच्छी है ।

उन्हीं राजाओं की ईर्ष्या इस विभावना द्वारा कही गई है—

नीच महीपावली दहन बिनु वही है ।

राम की निःस्पृहता और संतोष का ठीक अंदाज कराने के लिये उपमा और रूपक के सहारे कैसी बातें सामने लाए हैं—

असन अजरिन को समुक्ति तिलक तण्यो,
बिपिन गवनु भले भूखे अब सुनाजु भो ।

धरसधुरीन धीर बीर रघुबीरजू को,
कोटि राज सरिस भरतजू को राज भो ॥

दो भावों के द्वंद का कैसा सुंदर और स्पष्ट चित्र इस रूपक में मिलता है—

मन अगहुँइ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन-नयन भरे नीर ।
गदत गोइ मानो सकुच पंक महँ, कदत प्रेम-वस्र धीर ॥

कौशल्या अपने गंभीर वात्सल्य प्रेम का प्रकाश इस पर्यायोक्ति द्वारा जिस प्रकार कर रही है, वह अत्यंत उत्कर्ष-सूचक होने पर भी बहुत ही स्वाभाविक है—

राघव एक बार फिरि आवौ ।

ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ ॥

जे पय प्याइ पोषि कर-पंकज बार बार चुचुकारे ।

क्यों जीवहिं मेरे राम लाड़िले ! ते अब निपट बिसारे ॥

सुनहु पथिक ओ राम मिलहि बन कहियो मातु-संदेसो ।

तुलसी मोहि और सबहिन तैं इनको बड़ो अंदेसो ॥

जिसके वियोग में घोड़े इतने विकल हैं, उसके वियोग में माता की क्या दशा होगी, यह समझने की बात है—

आसु वियोग बिकल पसु ऐसे । कहहु मातु-पितु जीवहिं कैसे ?

‘पर्यायोक्ति’ का आश्रय लोग स्वभावतः किस अवस्था में लेते हैं, यह राम का इन शब्दों में आज्ञा माँगना बता रहा है—

नाथ ! क्षण पुर देखन चहहीं । प्रभु सकोच उर प्रगट न कहहीं ॥

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को जो मानसिक व्यथा, जो दुःख हो रहा था, उसे लक्ष्मण ने उठकर देखा और वे कहने लगे—

हृदय छाड़ मेरे, पीर रघुबीरै ।

पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम-पुलकि बिसराय सरीरै ॥

इस 'असंगति' से संजीवनी बटी का प्रभाव (पीड़ा दूर करने का) भी प्रगट हुआ और राम के दुःख का आतिशय्य भी । अलंकार का ऐसा ही प्रयोग सार्थक है ।

रावण और अंगद के संवाद में दोनों की 'व्याज-निन्दा' बहुत ही अच्छी है । रावण के इस वचन से कुछ बेपरवाही फलकती है—

**धन्य कीस जो निज प्रभु काजा । जहँ तहँ नाचहि परिहरि लाजा ॥
नाचि कूदि करि बोग रिमाई । पति-हित करै धरम-निपुनाई ॥**

बंदरो का आदमी के हाथ में पकड़कर नाचना-कूदना एक नित्यप्रति देखी जानैवाली बात है । अंगद के इन नीचे लिखे वचनों में कैसा गुद उपहास है—

**नाक-कान बिनु भगिनि निहारी । क्षमा कीन्ह तुम धरम बिचारी ॥
लाजवंत तुम सहज सुभाऊ । निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥**

(२) रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिये अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है । रूप का अनुभव प्रधानतः चार प्रकार का होता है—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक या घृणोत्पादक । इस प्रकार के अनुभव में सहायक होने के लिये आवश्यक यह है कि प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तु में निब-प्रतिनिब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लाई हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप-रंग आदि में मिलती-जुलती हो और उससे उसी भाव के उत्पन्न होने की संभावना हो जो प्रस्तुत से उत्पन्न हो रहा हो । अब देखिए, तुलसीदासजी के प्रयुक्त अलंकार कहाँ तक इन बातों को पूरा करते हैं ।

छीता के जयमाल पहनाने की शोभा देखिए—

सत्तानंद-सिख मुनि पायें परि पहिराई माल

सिख पिय-हिय, ओइत सो भई है ।

मानस तें निकसि बिसाल सुत्तमाल पर

मानहुँ मराल-पाँति बैठि बनि गई है ॥

इस उत्प्रेक्षा में श्रीराम के शरीर और तमाल में श्यामता के विचार से ही बिंब-प्रतिबिंब भाव है, आकृति का सादृश्य नहीं है; पर मराल-पाँति और जयमाल में वर्ण और आकृति दोनों के सादृश्य से बिंब-प्रतिबिंब भाव बहुत पूर्णता को पहुँचा हुआ है। पर सबसे बढ़कर बात तो यह है कि तमाल पर बैठी मराल-पंक्ति का नयनाभिरामत्व कैसे प्राकृतिक क्षेत्र से, सौंदर्य संग्रह करके, गोस्वामीजी मेल रखने के लिये लाए है।

इसी ढंग की एक और उत्प्रेक्षा लीजिए। रणक्षेत्र में रामचंद्रजी के वृषादल-श्याम शरीर पर रक्त की जो छोटी पड़ी हैं वे कैसी लगती हैं—

खोजित-छींट-छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी ।

मानो मरकत-सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीरबहूटी ॥

इनमें भी रक्त की छोटो और बीरबहूटियों में वर्ण और आकृति दोनों के विचार से बिंब-प्रतिबिंब है, पर शरीर और मरकत-शिला में केवल वर्ण का सादृश्य है। पर आकृति का ब्योरा अधिक न मिलना कोई त्रुटि नहीं है, क्योंकि प्रेक्षक कुछ दूर पर खड़ा माना जायगा। इसी प्रकार देखिए, तट पर से खड़े होकर देखनेवाले को गंगा-यमुना के संगम की झटा कैसी दिखाई पड़ती है—

ओहै सितासित को मिलिबो तुलसी झुलसै हिय हेरि हिलोरे ।

मानो हरे गुन चाक चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे ॥

एक और सुंदर 'उत्प्रेक्षा' लीजिए—

कला-भजन हैं प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।

निकसे जुनु जुग विमल बिधु जसद-पटल बिलगाइ ॥

इस उत्प्रेक्षा में मोच-खंड के बीच से प्रकट होते हुए चंद्रमा का मनोरम दृश्य लाया गया है जो प्रस्तुत दृश्य की मनोहरता के अनुभव को बढ़ानेवाला है। नेत्र शीतल करने का गुण भी राम-लक्ष्मण और चंद्रमा दोनों में है।

‘रूपकातिशयोक्ति’ का प्रयोग बहुत से कवियों ने इस ढंग से किया है कि वह एक पहली सी हो गई है। पर गोस्वामीजी ने उसे अपनी प्रबंध-धारा के भीतर बड़े स्वाभाविक ढंग से बैठाया है—ऐसे ढंग से बैठाया है कि वह अलंकार जान ही नहीं पड़ती, क्योंकि उसमें अप्रस्तुत भी वन के भीतर प्रस्तुत समझे जा सकते हैं। सीता के वियोग में वन वन फिरते हुए राम कहते हैं—

खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना । मधुप-निकर कोकिला प्रवीना ॥

कुंव-कली दादिम, दामिनी । सरद-कमल, सखि, अहि-भामिनी ॥

वरुण-पाश मनोज, धनु, हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥

श्रीफल, कमल, कदलि हरखाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥

गोस्वामीजी की प्रबंध-कुशलता बिलक्षण है जिससे प्रकरण-प्राप्त वस्तुएँ अलंकार-सामग्री का काम भी देती चलती हैं। इससे होता यह कि अलंकारों में कृत्रिमता नहीं आने पाती। रंगभूमि में इधर राम आते हैं, उधर सूर्य का उदय होता है। इस बात पर कवि को यह अपभ्रुति सूझती है—

रवि निज उदय-व्याज रघुराया । प्रसु-प्रताप सब नृपन दिखाया ॥

भिन्न भिन्न गुणों के आश्रयत्व से एक ही राम को गोस्वामीजी ने इतने विभिन्न (कहीं कहीं तो बिलकुल विरुद्ध) रूपों में ‘उल्लेख’ के सहारे दिखाया है कि जो बेचारे अलंकार-सलंकार नहीं जानते, वे इसे राम की दिव्य विभूति समझकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। देखिए—

जिनकै रही भाषना जैसी । हरि-मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥
 देखहि भूप महा रनवीरा । मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥
 डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥
 पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई । नर-भूषन लोचन-सुख-दाई ॥
 रहे असुर जल-छोनिप-वेषा । तिन प्रभु प्रगट काल-सम देखा ॥
 अलंकार के निर्वाह का वे पूरा ध्यान रखते थे । हिरन के पीछे दौड़ते हुए राम को पंचशर कामदेव बनाना है, इसके लिये देखिए इस अमालंकर में वे शरो की गिनती किस प्रकार पूरी करते हैं—

सर चारिक चारु बनाई कसे कटि, पानि सरासन-सायक लै ।
 बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै ?
 अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौकि चकैं चितवैं चित दै ।
 न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है ॥
 प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं के भीतर से ही वे प्रायः अलंकार की सामग्री चुनते हैं । इस 'निदर्शना' में उसका एक और सुंदर उदाहरण लीजिए । विश्वामित्र के साथ जाते हुए बालक राम-लक्ष्मण उनकी नजर बचाकर कहीं धूल-काचब में खेल भी लेते हैं जिसके दाग कहीं कहीं बदन पर दिखाई पड़ते हैं—

सिरनि सिखंड सुमन-दल मंडन बाल सुभाय बनाए ।
 कैलि-अंक तनु रेनु पंक जनु प्रगटत चरित चुराए ॥
 कवि लोग कभी कभी दूर की उड़ान भी मारा करते हैं । गोस्वामीजी ने भी कहीं कहीं ऐसा किया है । सीता के रूप-वर्णन में यह 'अतिशयोक्ति' देखिए—

जो छबि-सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ।
 सोभा रजु मंदर सृंगारू । मथै पानि-पंकज निज मारू ॥
 यहि बिबि उपजै लच्छि जब सुंदरता-सुख-भूख ।
 तदपि सकोच समेत कबि कहहि सीय-सम तूख ॥

चंद्रमा के काले दाग पर यह अप्रस्तुत प्रशंसा देखिए—

कोउ कहू जब बिधि रति मुख कीन्हा ।
सार भाग ससि कर हरि कीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं ।
तेहि सम देखिय नभ परछाहीं ॥

रूप-संबंधी कुछ और उक्तियाँ देखिए—

- (क) सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर ।
सिय अंग सखि, कोमल, कनक कठोर ॥
सिय मुख सरद-कमल जिमि किमि कहि जाइ ?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥ (व्यतिरेक)
- (ख) सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार बेलि पहिरावौ चंपक होत ॥ (मीलित)
- (ग) चंपक-हरवा अंग मिलि अधिक सुहाइ ।
आनि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाइ ॥ (उन्मीलित)
- (घ) केस मुकुत, सखि, मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥ (अतद्गुण)
- (च) मुख-अनुहरिया केवल चंद-समान । (प्रतीक)
- (छ) द्वैभुज कर हरि रघुबर सुंदर वेष ।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष ॥ (हीन अभेद रूपक)

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है वहाँ अलंकार उसके अनुभव में सहायता गोचर रूप प्रदान करके करता है; अर्थात् वह पहले गोचर-प्रत्यक्षीकरण करके बोध-वृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करता है। जैसे, यदि कोई आनेवाली विपत्ति या अनिष्ट का कुछ भी ध्यान न करके अपने रंग में मस्त रहता हो और कोई उसको देखकर कहे कि—‘नरै हरित तू न बलि-मसु जैसे’ तो इस

कथन से उसकी दशा का प्रत्यक्षीकरण कुछ अधिक हो जायगा जिससे उसमें भय का संचार पहले से कुछ अधिक हो सकता है।

‘भव-बाधा’ कहने से कोई विशेष रूप सामने नहीं आता, सामान्य अर्थ-ग्रहण मात्र हो जाता है। इससे गोस्वामीजी उसे व्याल का गोचर रूप देते हुए ‘परिकराङ्कुर’ का अवलंबन करते हुए कहते हैं—

तुलसिदास भव-व्याल-प्रसित तब सरन उरग-रिपु-गामी ॥

इसी प्रकार कैकेयी की भीषणता सामने खड़ी की गई है—

लखी नरेस बात यह साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची ॥

(३) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु के बीच या तो ‘अनुगामी’ (एक ही) धर्म होता है; या ‘वस्तु-प्रतिवस्तु’ या उपचरित। सीधी भाषा में यों कह सकते हैं कि अलंकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग-प्राप्त वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग अलग कहे जाने पर भी दोनों के धर्म समान होते हैं, अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है; जैसे, उसका हृदय पत्थर के समान है।

देखिए, केवल क्रिया की तीव्रता का अनुभव कराने के लिये इस ‘ललि-तोपमा’ का प्रयोग हुआ है—

मारुतनन्दन मारुत को, मन को खगराज को बेग लजायो।

सीता के प्रति कहे हुए रावण के वचन को सुनकर हनुमान्जी को जो क्रोध हुआ, उसके वर्णन में इस रूपक का प्रयोग भी ऐसा ही है—

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-विष्य बढ़ोइ।

सङ्गुचि राम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ ॥

इनमें क्रिया या वेग को छोड़ प्रस्तुत-अप्रस्तुत में रूप आदि का कोई सादृश्य नहीं है। पर गोस्वामीजी के प्रबंधों में ऐसे स्थल भी बहुत से मिलते

हैं जिनमें बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रस्तुत और अप्रस्तुत की स्थिति भी है और धर्म भी वस्तु-प्रतिवस्तु है। एक उदाहरण लीजिए—

बालाघी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ,
 लंक लीलिषे को काल रसना पसारी है।
 कैधों न्योम-बीथिका भरे हैं भूरि घूमकेतु,
 बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥
 तुलसी सुरेस-बाप कैधों दामिनी-कलाप
 कैधों खली मेरु तें कसानु-सरि भारी है॥

इसमें 'उत्प्रेक्षा' और 'वदेह' का व्यवहार किया गया है। इधर-उधर घूमती हुई जलती पूँछ तथा काल की जीभ और तलवार में बिंब-प्रतिबिंब भाव (रूप-सादृश्य) भी है तथा संहार करने और दाह करने में वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म भी है। इस दृष्टि से यह अलंकार बहुत ही अच्छा है।

दो-एक जगह ऐसे उपमान भी मिलते हैं जिसमें कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है; जैसे—

सेबहिं लषन-सीय रघुवीरहिं । जिमि अविबेकी, पुनष सरीरहिं ॥

पर कहीं कहीं इस हीनता को कुछ अपने ऊपर लेकर गोस्वामीजी ने उसका सारा दोष हर लिया है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।

तिमि रघुबंस निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

नीचे लिखे 'रूपक' में उपमान और उपमेय का अनुगामी (एक ही) धर्म बड़ी ही सुंदर रीति से आया है—

नृपन केरि आसा-निसि नासी । बचन-नखत-अवली न प्रकासी ॥

मानी-महिप-कुमुद सकुचाने । कपटी-भूप-उलूक लुकाने ॥

इसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि केवल क्रिया का सादृश्य है, रूप आदि का कुछ भी सादृश्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि यहाँ

‘सकुचना’ और ‘लज्जित होना’ आए हैं, पर रूपक का उद्देश्य इन भावों का उत्कर्ष दिखाना नहीं है, बल्कि एक साथ इतनी भिन्न भिन्न क्रियाओं का होना ही दिखाना है।

एक ही क्रिया का संबंध अनेक पदार्थों से दिखाती हुई यह ‘तुल्य-योगिता’ भी बड़ी ही सटीक है—

सब कर संसय अरु अग्यानु । मंद महीपन कर अभिमानू ॥
भृगुपति केरि गर्ब गरुआई । सुर-मुनि बरन केरि कदराई ॥
सिय कर सोच, अनक परितापा । रानिन कर दारुन-दुख दापा ॥
संभुषाप बड़ बोहित पाई । चढ़े जाइ सब संग बनाई ॥

प्रबंध-धारा के बीच यह अलंकार ऐसा मिला हुआ है कि ऊपर से देखने में इसकी अलंकारता प्रकरण से अलग नहीं मालूम होती। ‘बोहित’ को छोड़ और कोई सामग्री कवि-प्रतिभा-प्रदत्त या ऊपर से लाई हुई नहीं है। हाँ, वस्तुओं की जो सुंदर योजना है, वह अवश्य कवि की प्रतिभा का फल है। यही प्रतिभा कवि को प्रबंध-रचना का अधिकार देती है; कौतुकी कवियों की वह प्रतिभा नहीं जो पंचवटी की शोभा के वर्णन के समय प्रलय-काल के बारहों सूर्य उतार लाती है। प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को ढालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है वही प्रकृत कवि है। जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी-को छोड़ हिंदी के और किसी कवि में वह प्रबंध-पटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है। प्रकरण-प्राप्त विषयों को अलंकार सामग्री बनाते हुए किस प्रकार वे स्थान-स्थान पर प्रबंध-प्रवाह के भीतर ही अलंकारों का विधान भी करते चलते हैं, यह हम दिखाते आ रहे हैं। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें ‘सहोक्ति’ द्वारा एक ही क्रिया (धनुर्भंग) का कैसा विशद संग्राहक रूप दिखाया गया है—

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो ।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि मुख सबहि दियो ॥
आकरण्यो सिय-मन समेत हरि, हरण्यो जनक-हियो ।
भंड्यो भृगुपति-गर्भ-सहित, तिहुँ लोक विमोह कियो ॥

परिणाम का स्वरूप आगे रखकर कर्म की भयंकरता अनुभव कराने का
कैसा प्रकृत प्रयत्न इस 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में दिखाई पड़ता है—

मातु-पितहि जनि सोच-बस करसि महीप-किसोर ॥

इसी प्रकार कर्म के स्वरूप को एकबारगी नजर के सामने लाने के लिये,
'ललित' अलंकार द्वारा उसका यह गोचर स्वरूप सामने रखा गया है—

यहि पापिनिहि सूक्ति का परेऊ ? छाए भवन पर पावक धरेऊ ॥

कूर और नीच मनुष्य यदि कभी आकर नम्रता प्रकट करे तो इसे
बहुत डर की बात समझना चाहिए । नीचों की नम्रता की यह भयंकरता
गोस्वामीजी ने बड़े ही अच्छे ढंग से गोचर की है—

नबनि नीच कै अति दुखदाई । जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई ॥

यही बात दोहावली में दूसरे ढंग से गोचर की है—

मिलै जो सरलहि सरल है, कुटिल न सहज बिहाइ ।

सो सहेतु, क्यों अक्रगति ब्याल न बिलै समाइ ॥

जिसे हम पचासों बार दुष्टता करते देख चुके हैं, वह यदि कभी बहुत
सीधा बनकर आवे तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपना कोई मतलब
निकालने के लिये तैयार हुआ है । मतलब निकालने के लिये तैयार दुष्ट
संसार में कितनी भयंकर वस्तु है !

क्रोध से भरी कैकेयी राम को वन भेजने पर उद्यत हो कर खड़ी होती
है । उस समय उसके कर्म और संकल्प की सारी भीषणता गोचर नहीं हो
रही है । वेश और काल का व्यवधान पड़ता है । इससे गोस्वामीजी रूपक
द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर रहे हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोक-तरंगिनि बाढ़ी ॥
पाप-पहार प्रकट भई सोई । भरी क्रोध-जल जाइ न जोई ॥
दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा । भँवर कूबरी-बचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप-रूप तरु-मूला । बली विपति-आरिधि-अनुकूला ॥

‘पाप’ और ‘पहाड़’ तथा ‘क्रोध’ और ‘जल’ में यहाँ अनुगामी धर्म है, देश में वस्तु-प्रतिवस्तु । जैसे नदी के दो कूल होते हैं, वैसे ही उसके क्रोध के दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारा में वेग होता है, वैसे ही हठ में है; जैसे भँवर मनुष्य का निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरी के बचन परिस्थिति को और कठिन कर रहे हैं । यह सांग रूपक कैकेयी के कर्म की भीषणता को खूब आँख के सामने ला रहा है । भाव या किया की गहनता व्योतित करने के लिए गोस्वामीजी ने प्रायः नदी और समुद्र के रूपक का आश्रय लिया है । चित्रकूट में अपने भाइयों के सहित रामचंद्र जनक से मिलकर उन्हें अपने आश्रम पर ले जा रहे हैं । वह समाज ऐसे शोक से भरा हुआ था जिसका प्रत्यक्षीकरण इस ‘रूपक’ के ही द्वारा अच्छी तरह हो सकता था—

आश्रम-सागर-साँतरस पूरन पावन पाथ ।

सेन मनहुँ करुना-सरित लिए जाहि रघुनाथ ॥

बोरति ग्यान-बिराग करारे । बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥
सोच उसास समीर तरंगा । धीरज तट तरुवर कर भंगा ॥
विषम विषाद तुरावति बारा । भय भ्रम भँवर-अवर्त्त अपारा ॥
केवट बुध, बिया बड़ि नावा । सकहि न खेइ एक नहिं आवा ॥
आश्रम-उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥

(४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

देखिए, इस ‘व्यतिरेक’ की सहायता से संतों का स्वभाव किस सफाई के साथ औरों से अलग करके दिखाया गया है—

संत-हृदय नवनीत-समाना । कहा कबिन पै कहइ न जाना ॥
निज-परित्याप द्वै नवनीता । पर-दुख द्वै सुसंत पुनीता ॥

संतों और असंतों के बीच के भेद को थोड़ा कहते कहते 'व्याघात' द्वारा कितना बड़ा कह डाला है, जरा यह भी देखिए—

बंदों संत असञ्जन चरना । दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना ।
मिश्रित एक दारुन दुख देहीं । शिछुरत एक प्राण हरि लेहीं ॥

इस इतने बड़े भेद को थोड़ा कहनेवाले का हृदय कितना बड़ा होगा !

कवि लोग अपनी चतुराई दिखाने के लिये श्लेष, कूट, प्रहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परम भावुक गोस्वामीजी ने ऐसा कहीं नहीं किया । एक स्थान पर ऐसी युक्ति-पटुता है, पर वह आख्यानगत पात्र का चातुर्य दिखाने के लिये ही है । लक्ष्मण से सूर्यणखा के नाक-कान काटने के लिये राम इस तरह इशारा करते हैं—

बेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास ।

पठयो सूपनखाहि लषन के पास ॥

(वेद=धृति=कान । आकाश=स्वर्ग=नाक ।)

गोस्वामीजी की रचना में बहुत से स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ यह निश्चय करने में गड़बड़ी हो सकती है कि यहाँ अलंकार है या भाव । इसकी संभावना वही होगी जहाँ स्मरण, संदेह और भ्राति का वर्णन होगा । स्मरण का यह उदाहरण लीजिए—

बीच बास करि जमुनहि आए । निरखि नीर लोचन जल छाए ॥

इसे न विशुद्ध अलंकार ही कह सकते हैं, न भाव ही । उपमेय और उपमान (राम के शरीर, यमुना के जल) के सादृश्य की ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है, और जब अश्रु सार्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है । सब पूछिए तो इसमें दोनों हैं । पर इसमें संदेह नहीं कि भाव का उर्द्वेक अत्यन्त स्वाभाविक है और यहाँ वही प्रधान है, जैसा कि 'लोचन जल छाए' से प्रकट होता है ।

विशुद्ध अलंकार तो वही कहा जा सकता है जहाँ सदाश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है। अलंकार का स्मरण प्रायः वास्तविक नहीं होता; रूप-गुण आदि के उत्कर्ष-प्रदर्शन का एक कौशल मात्र होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि स्मरण भाव केवल सदाश वस्तु से ही नहीं होता, संबंधी वस्तु से भी होता है। शुद्ध 'स्मरण' भाव का यह उदाहरण बहुत ही अच्छा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ ।

बार बार उर नयननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ ॥

अब भ्रम का एक ऐसा ही उदाहरण लीजिए। सीताजी अपने जलने के लिये अशोक से अंगार माँग रही थीं। इतने में हनुमान् ने पेड़ के ऊपर से राम की 'मनोहर मुद्रिका' गिराई और—

जानि असोक अंगार सीय हरपि उठि कर गद्यो ।

इसी प्रकार जहाँ उत्तरकांड में अयोध्या की विभूति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है—

मनि मुख मेलि डारि कपि देहों ।

इन दोनों उदाहरणों में 'भ्रम' अलंकार नहीं है। अलंकार में भ्रम के विषय की विशेषता होती है, भ्रात का नहीं। भ्रात की विशेषता में तो पागलों का भ्रम भी अलंकार हो जायगा। सीता का जो भ्रम है, वह विरह की विह्वलता के कारण और बंदरों का जो भ्रम है, वह पशुत्व के कारण। इस प्रकार का भ्रम अलंकार नहीं, यह बात आचार्यों ने स्पष्ट कह दी है—

मर्मप्रहारकृत-चित्तविक्षेप-विरहादिकृतोन्मादादिजन्यभ्रातेश्च
नालंकारत्वम् ।

—उद्योतकार ।

संदेह के संबंध में भी यही बात समझिए जो ऊपर कही गई है। तीनों में सादृश्य आवश्यक है। संदेह तो अलंकार तभी होगा जब उसको लाने का मुख्य उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष (अपकर्ष भी) सूचित करना

होगा। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे, 'कि मैनाक की खग-पति होई' में जो संदेह है, वह कवि के प्रबंध-कौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है। नीचे लिखा उदाहरण यदि लीजिए तो उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है—

की तुम हरिदासन महुँ कोई । मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥
की तुम राम दीन-अनुरागो । आए मोहिं करन बड़-भागो ॥

अलंकार का विषय समाप्त करने के पहले दो चार बातें कह देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि सब अलंकार आने पर भी गोस्वामीजी की रचना कहीं ऐसी नहीं है कि पहले अलंकार का पता लगाया जाय तब अर्थ खुले। जो अलंकार का नाम तक नहीं जानते, वे भी अर्थ ग्रहण करके पूरा आनंद उठाते हैं। एक विद्वारी हैं कि पहले 'नायिका' का पता लगाइए, फिर अलंकार निश्चित कीजिए, और तब दोनों की सहायता से प्रसंग की उद्घाटी कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो। गोस्वामीजी की इस अद्भुत विशेषता का कारण है उनकी अपूर्व प्रबंध-पटुता जिसके बल से उन्होंने अपनी प्रबंध-धारा के साथ, अधिकतर प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं को ही लेकर, अलंकारों को इस सफाई से मिलाया है कि जोड़ मालूम नहीं पड़ता।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि गोस्वामीजी श्लेष, यमक, मुद्रा आदि खेलवाड़ों के फेर में एक तरह से बिल्कुल नहीं पड़े हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शब्दालंकार का सौंदर्य उनमें नहीं। ओज, माधुर्य आदि का विधान करनेवाले वर्ण-विन्यास का आश्रय उन्होंने लिया है। उनकी रचना शब्द-सौंदर्य-पूर्ण है। अनुप्रास के तो वे बादशाह थे। अनुप्रास किस ढंग से लाना चाहिए, उनसे यह सीखकर यदि बहुत से पिछले फुटकरिए कवियों ने अपने कवित्त-सर्वैए लिखे होते, तो उनमें वह भद्दापन और अर्थ-न्यूनता न आने पाती। तुलसी की रचना में कहीं कहीं एक ही वर्ण की आवृत्ति सारे

चरण में यहाँ से वहाँ तक चली गई है, पर प्रसंग-बाध या भरती का शब्द एक भी नहीं। वो नमूने बहुत होंगे—

(क) जग जाँचिए कोउ न, जाँचिए जौ, जिय जाँचिए जानकी-जानहिरे॥
जेहि जाचत जाचकता जरि आई जो आरति जोर अहनाहि रे॥

(ख) खल परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कल-कंठ कठोरा॥
और उदाहरण ढूँढ़ लीजिए, कुछ भी कष्ट न होगा; जहाँ हूँ दियेगा, वहाँ मिलेंगे।

श्लेष, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लानेवाले अलंकारों का व्यवहार भी इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। इस प्रसिद्ध उदाहरण को छोड़, हम समझते हैं, परिसंख्या का शायद ही कोई और उदाहरण इनकी रचनाओं भर में मिले—

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्तक नृत्य-समाज।

जितहु मनहि अस सुनिय जग रामचंद्रके राज॥

शब्द-श्लेष के उदाहरण भी ढूँढ़ने पर चार ही पाँच जगह मिलते हैं, जैसे—

- (क) साधु चरित सुभसरिसकपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
(ख) बहुरि सक-सम बिनवौ तेहो। संतत सुरानीक हित जेहो॥
(ग) रावन-सिर-सरोज-वनचारो। चलि रघुबीर-सिलीमुख-धारी॥
(घ) सेवा-अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,

बिहूने गुन पथिक पियासे जात पथ के।

इसी प्रकार 'यमक' का व्यवहार भी कम ही मिलता है; जैसे—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
'राम कहाँ' 'सब ठाउँ हैं', 'खंभ में?', 'हाँ', सुनि हाँक नृ-केहरि जागे॥

गोस्वामीजी को रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; जो जिस रुचि से आकर्षित हो, उसी से सही। इससे उन्होंने अलंकार की भद्दी रुचि रखनेवालों को भी निराश नहीं किया और इस

तरह के भी कुछ अलंकार कहे जिस तरह का विनय पत्रिका में यह 'सांग रूपक' है—

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी ।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुर-पुर-बासी ॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोमसिवलिंग अमित अबिनासी ।
अंतरअयन अयन भल थन, फल बच्छ बेद-विस्वासी ॥
गल-कंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरिता सी ।
लोकादिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी ॥

कहिए, काशी की इन वस्तुओं का सींग, पूँछ, गल-कंबल आदि के साथ कहाँ तक सादृश्य है । अनुगामी धर्म, वस्तु-प्रति-वस्तु धर्म, उपचरित धर्म, बिब-प्रतिबिब रूप आदि ढूँढ़ने से कहाँ तक मिल सकते हैं ? 'घंट' और 'करनघंटा' में तो केवल शब्दात्मक सादृश्य ही है । इसी प्रकार विनयपत्रिका में अर्द्ध-नारीश्वर शिव को बसंत बनाया है और गीतावली में चित्रकूट की वनस्थली को होली का स्वर्ग । पर फिर भी यही कहना पड़ता है कि इसमें गोस्वामीजी का दोष नहीं; यह एक वर्ग-विशेष की रुचि का प्रसाद है । इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो-चार ऐसे स्थलों से उनके रुचि-सौंदर्य में अणु-मात्र भी संदेह नहीं उत्पन्न हो सकता ।

—

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस बे पर की उद्धान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अपनी उत्प्रेक्षा, उपमा आदि के लिये सामग्री लिया करते हैं। मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा-व्यंजना-शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का। ऐसी उक्तियाँ गोस्वामीजी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं; अतः केवल दो-चार का दिग्दर्शन ही यहाँ हो सकता है।

राम की शोभा वर्णन करते हुए एक स्थान पर कवि कहता है—“मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै”। इस ‘छलकै’ शब्द में कितनी शक्ति है! व्यापार को कैसा गोचर रूप प्रदान करता है! इसका वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत है। लक्षणा से इसका अर्थ होता है—“प्रभूत परिमाण में प्रकट होना”। पर ‘अभिधा’ द्वारा इस प्रकार कहने से वैसी तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकती।

‘विनयपत्रिका’ में गोस्वामीजी राम से कहते हैं—

“हाँ सनाथ हैहाँ सही, तुमहूँ अनाथ-पति जौ लघुतहि न मिलैहौ”।

‘लघुता से भयभीत होना’ कैसी विलक्षण उक्ति है, पर साथ ही कितनी सच्ची है! शानदार अमीर लोग गरीबों से क्यों नहीं बातचीत करते? उनकी ‘लघुता’ ही के भय से न। वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? अतः लघुता से भयभीत होने में जो एक प्रकार का विरोध सा लक्षित होता है, वह हृदय पर किस शक्ति के साथ प्रभाव डालता है!

राम के वन चले जाने पर कौशल्या दुःख से विह्वल होकर कहती हैं—

हाँ घर रहि मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दखो है ।

कौशल्या को घर श्मशान सा लग रहा है । इस श्मशान की अग्नि में कौशल्या को भस्म हो जाना चाहिए था । पर वे कहती हैं कि इस अग्नि में भस्म होना चाहिए था मुझे, पर जान पड़ता है कि मैंने अपनी मृत्यु का शव ही इसमें जलाया है । भाव तो यही है मुझे मृत्यु भी नहीं आती, पर अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है । ऐसी ऐसी उक्तियों के लिये अंगरेज महाकवि शेक्सपियर प्रसिद्ध है ।

अब कौशल्याजी मरती क्यों नहीं, इसका कारण उन्हीं के मुख से सुनिए—

लग्गे रहत मेरे नयननि आगे राम-लखन अरु सीता ।

*

*

*

दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत, मनु न रहै बिनु देखे ॥

राम-लक्ष्मण की मूर्ति हृदय से हटती ही नहीं, बिना उनकी मूर्ति सामने लाए मन से रहा ही नहीं जाता । और जब उनकी मूर्ति मन के सामने आ जाती है तब दुःख नहीं रह जाता । मरें तो कैसे मरें ?

एक और उक्ति सुनिए, जो है तो साधारण ही, पर एक अपूर्वता के साथ—

कियो न कछू, करिबो न कछू, कहियो न कछू, मरिबोइ रह्यो है ।

और सब काम तो मैं कर चुका, मरने का काम भर और रह गया है । किसी अंगरेज कवि ने भी कही इसी भाव से कहा है—

आइ हैव माइ डाइंग डु डू

लोग मैत्री और प्रीति का बड़े इत्मिनान के साथ धीरे धीरे करते हैं, पर एक जरा सी बात पर उसे चट तोड़ देते हैं—

थोरेहि कोष कृपा पुनि थोरेहि, बैठि के जोरत तोरत ठाढ़े ।

महाँ 'बैठि' और 'ठाढ़े' दोनों का लक्ष्यार्थ ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार की एक और लक्षणा देखिए—

बड़े ही समाज आज राजनि की लाजपति

हाँकि आँक एक ही पिनाक छीनि लई है।

'उपादान लक्षणा' के उदाहरण हिंदी में कम मिलते हैं, देखिए, उसका कैसा चलता उदाहरण इस दोहे में है—

तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।

बोलचाल में बराबर आता है कि 'प्रेम अंधा होता है'।

एक स्थान पर गोस्वामीजी एक ही क्रिया के दो ऐसे कर्म लाए हैं जो परस्पर अत्यंत विजातीय होने के कारण बहुत ही अनूठे लगते हैं। इनुमान् जी पर्वत लिए हुए राम के पास आ पहुँचते हैं; इसपर—

बेग बल साहस सराहत कृपा निधान,

भरत की कुसल अचल लाए चलिकै।

भरत की कुशल और पर्वत दोनों लाए। इसमें चमत्कार दोनों वस्तुओं के अत्यंत विजातीय होने के कारण है। अंगरेज उपन्यासकार डिक्से को ऐसे प्रयोग बहुत अच्छे लगते थे; जैसे, 'इस बात ने उसकी आँखों से आँसू और जेब से रुमाल निकाल दिया'। (दिस ड्र्यू टियर्ज फ्रॉम हर आइज ऐंड हैकरवीफ फ्रॉम हर पाकेट)।

भाषा पर अधिकार

भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामीजी का था, वैसा और किसी हिंदी-कवि का नहीं। पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि 'अवधी' और 'व्रज' काव्य-भाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था। रामचरितमानस को उन्होंने 'अवधी' में लिखा है जिसमें पूरबी और पछाँही (अवधी) दोनों का मेल है। कवितावली, विनयपत्रिका और गीतावली तीनों की भाषा व्रज है। कवितावली तो व्रज की चलती भाषा का एक सुंदर नमूना है। पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामलला-नहछू ये तीनों पूरबी अवधी में हैं। भाषा पर ऐसा विस्तृत अधिकार और किस कवि का था ? न सूर अवधी लिख सकते थे, न जायसी व्रज।

गोस्वामीजी की कैसी चलती हुई मुहाविरदार भाषा है, दो-चार उदाहरण देकर दिखलाया जाता है—

(क) बात चले बात को न मानियो अलग, बलि,

काकी सेवा रीमि कै निवाजो रघूनाथ जू ?

(ख) सब की न कहैं, तुलसी के मते उतनो जग-जीवन को फल है।

(ग) प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहाँ।

(घ) सो सनेह समउ सुमिरि तुलसी हू के से
भली भाँति, भले पैत, भले पाँसे परिगे।

(ङ) ऐहै कहा नाथ ? आथो झाँ, क्यों कहि जात बनाई है।

(च) आवेगा क्या आया है)

लोकोक्तियों के प्रयोग भी स्थान स्थान पर मिलते हैं; जैसे—

(क) माँगि कै खैबो मसीह को सोइबो,

लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

(ख) मन-मोदकनि कि भूख बुताई ?

पर सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामीजी की है भाषा की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता जो हिंदी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पाई जाती । ये ही दो बातें न होने से इधर के शृंगारी कवियों की कविता और भी पढ़े-लिखे लोगों के काम की नहीं हुई । हिंदी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य-रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगो ने इस बात को भूलकर कवित्त-सवैयो के चार पैर खड़े किए हैं । गोस्वामीजी के वाक्यों में कहीं शैथिल्य नहीं है, एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो पाद-पूर्त्यर्थ रखा हुआ कहा जा सके । ऐसी गठी हुई भाषा किसी की नहीं है । उदाहरण देने की न जगह ही है, न उतनी आवश्यकता ही । सारी रचना इस बात का उदाहरण है । एक ही चरण में वे बहुत सी बातें इस तरह कह जाते हैं, कि न कहीं से शैथिल्य आता है न न्यूनपदत्व—

परुष बचन अति दुसह खवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।

बिगत मान सम सीतल मन पर गुन, नहिं दोष, कहौंगो ॥

कहीं कहीं तो ऐसा है कि पद भर में यहाँ से वहाँ तक एक ही वाक्य चला गया है, पर क्या मजाल कि अंत तक एक सर्वनाम में भी त्रुटि आने पावे—

जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे ।

जेहि कर-कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक-संसय भेंट्यो ।

जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥

जेहि कर कमल कृपालु गोध कहँ उदक देइ निज लोक दियो ।

जेहि कर बालि बिदारि दास-हित कपि-कुल-पति सुग्रीव कियो ॥

आए सरन सभोत विभीषन जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों ।

जेहि कर गहि सर-चाप असुर-हति अभय-दान देवन दीन्हों ॥

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की भेटति पाप ताप माया ।

निसि-जासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥

कैसा सुव्यवस्थित वाक्य है। और कवियों के साथ तो तुलसी का मिलान ही क्या। 'वाक्य-दोष' हिंदी में भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगों को रहा। सूरदासजी भी इस बात में तुलसी से बहुत दूर हैं। उनके वाक्य कहीं कहीं उलझे से हैं, उनमें वह संबंध-व्यवस्था नहीं है। उनके पदों के कुछ अंश नीचे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

(क) श्रवण चीर अरु जटा बधावहु ये दुःख कौन समार्हो ।

चंदन तजि अँग भस्म बतावत बिरह-अनल अति दाहीं ॥

(ख) कै कहूँ रंक, कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ।

चेत्यो नहीं गयो टरि औसर भीन बिना जल जैसे ॥

(ग) भाव-भाक्ते जहँ हरि जस सुनयो तहाँ जात अलसाई ।

लोभातुर है काम-मनोरथ तहाँ सुनत उठि धाई ॥

इस प्रकार की शिथिलता तुलसीदासजी में कहीं न मिलेगी। लिंग आदि का भी सूरदासजी ने कम ध्यान रखा है; जैसे—

कागरूप इक दनुज धरयो ।

बीत्यो जाय ब्याव जब आयो सुनहु कंस तेरो आयु सरयो ।

इसी प्रकार तुलसी और छंद के लिये शब्दों के रूप भी सूरदासजी ने बहुत बिगाड़े हैं, जैसे—

(क) पलित केस, कफ कंठ बिरोधयो, कल न परी दिन-राती ।

माया-मोह न छाँड़ै तृष्णा, ये दोऊ दुख-दाती ॥

(ख) राम भक्त-वत्सल निज बानो ।

राजसूय में चरन पखारे स्याम लिए कर पानो ॥

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि तुलसीदासजी को यह सब करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है? लिंग-भेद में तो एक एक मात्रा का उन्होंने ध्यान रखा है—

राम सत्य-संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि ।

मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु नहिँ खोरि ॥

नीचे की चौपाई—

✓ **भर्म बचन जब सीता बोला । हरि-प्रेरित लछिमन-मन बोला ॥**
 में जो लिंग की गड़बड़ी दिखाई पड़ती है वह 'बोला' को 'बोल' मान लेने से और 'ल' की दीर्घता को चौपाई के पदांत के कारण ठहराने से दूर हो जाती है । अवधी मुहावरे में 'बोल' का अर्थ होगा 'बोलती है', जैसे 'उत्तर दिसि सरजू बह पावनि' में 'बह' का अर्थ है 'बहती है' ।

चुँचरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की ।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥

वाक्यों की ऐसी अव्यवस्था एक-आध जगह कोई भले ही दिखा दे, पर वह अधिक नहीं पा सकता । सर्वत्र वही परिष्कृत, गठी हुई, सुव्यवस्थित भाषा मिलेगी ।

कुछ खटकनेवाली बातें

इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो-चार खटकनेवाली बातें भी मिलती हैं; जिनका संक्षेप में उल्लेख मात्र यहाँ कर दिया जाता है—

(१) ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता । इस दोष से तो शायद ही कोई बच सकता हो । किसी की रचना हो, उसके समय का आभास उसमें अवश्य रहेगा । इसी से ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के दरवाजे पर गोस्वामीजी ने तुलसी का पौधा लगाया है और राम के मस्तक पर रामानंदी तिलक । राम वैदिक समय में थे । उनके समय में न तो रामानंदी तिलक की महिमा लोगों को मालूम हुई थी और न तुलसी की । राम के सिर पर जो चाँगो-सिया टोपी रखी है, उसका तो कोई ख्याल ही नहीं ।

(२) भक्ति-संप्रदायवालों की इधर की कृष्ण भक्तमाली कथाओं पर गोस्वामीजी ने जो आस्था प्रकट की है, वह उनके गौरव के अनुकुल नहीं है । नीचे

आँधरो, अंधम, जड़, जाजरो-जरा जवन,
 सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग में ।
 गिरयो हिय हहरि, "हराम हो, हराम हन्यो",
 हाय हाय करत परीगो काल-फँग में ॥
 तुलसी बिसोक है त्रिलोक-पति-लोक गयो,
 नाम के प्रताप, बात बिदित है जग में ।

(३) दसी नाम प्रताप को राम के प्रताप से भी बड़ा कहने का (राम ते अधिक राम कर नामा) प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा । सच्ची भक्ति से कोई मतलब नहीं, टीका लगाकर केवल 'राम राम' रटना बहुत से आलसी अपा-हिजाका काम हो गया । एक धनाढ्य महंत जिस गाँव में छापा डालते हैं, वहाँ के मजदूरों को बुलाकर उनसे दो तीन घंटे राम राम रटाते हैं और जितनी मजदूरी उन्हें खेत में काम करने से मिलती, उतनी गाँववालों से वसूल करके दे देते हैं ।

(४) दोहो में कही कही मात्राएँ कम होती हैं और सवैया में भी कहीं कहीं वर्ण घटे-बढ़े हैं ।

(५) अंगद और रावण का संवाद राजसभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है । पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामीजी राजन्य-वर्ग की शिष्टता का चित्रण नहीं कर सकते थे । राज-समाज के सभ्य-भाषण का अत्यंत सुंदर नमूना उन्होंने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है । पर राजसों के बीच शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे ।

हिंदी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान

जो कुछ लिखा जा चुका, उससे तुलसीदासजी की विशेषताएँ कुछ न कुछ अवश्य स्पष्ट हुई होंगी। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में हमने उन्हें उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बड़े से बड़ा कवि है। मानव श्रंतः-करणा की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक हमने उनकी पहुँच देखी। बाह्य जगत् के नाना रूपों के प्रत्यक्षीकरण में भी हमने उन्हें तत्पर पाया। काव्य के बहिरंग-विधान की सुंदर प्रणाली का परिचय भी हमें मिला। अब उनकी सबसे बड़ी विशेषता की ओर एक बार फिर ध्यान आकर्षित करके यह वक्तव्य समाप्त किया जाता है।

यह सबसे बड़ी विशेषता है उनकी प्रबंध-पटुता जिसके बल से आज 'रामचरितमानस' हिंदी समझनेवाली हिन्दु-जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य-जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचने वाली है; क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समीप है, इसका प्रमाण 'रामाज्ञा प्रश्न' है जिससे लोग हर एक प्रकार की आनेवाली दशा के संबंध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मामिकता के साथ जो विवरण कर सका, वही सबसे बड़ा भावुक और सबसे बड़ा कवि है, उसी का हृदय लोक-हृदय-स्वरूप है। शृंगार, वीर आदि कुछ गिने-गिनाएँ रसों के वर्णन में ही निपुण कवि का अधिकार मनुष्य की दो-एक वृत्तियों पर ही समझिए। पर ऐसे महाकवि का अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावनात्मक सत्ता पर है।

अतः केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कहीं पता ही नहीं। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-

निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पयों का संग्रह सी जान पड़ती है। वीरसिंहदेव-चरित में उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं, प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति-प्रयोगों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहा के भीतर शृंगाररस के विभाव-अनुभाव और संचारी हाँ भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामीजी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमसात-स्वरूप भक्तवर सूरदासजी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिन्दी-भाषी हैं, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर जैसा कि दिखाया जा चुका है भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामीजी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि 'सूर सूर तुलसी ससी, उदुगन केशवदास'। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कठ भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।

परिशिष्ट

‘मानस’ की धर्म-भूमि

धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं कह चुके हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि रूप में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुल-नायक या कुल-देवता तक ही पहुँचेगी, किसी जाति या देश-विशेष के भीतर जो करेंगे उनकी भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँचकर रह जायगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जाकर संतुष्ट नहीं होती। वह अखिल विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है। उसके भीतर का ‘चित्’ जब बाहर ‘सत्’ का साक्षात्कार करता है तब ‘आनंद’ का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान् का सामीप्य लाभ करता चला जाता है। इसी से तुलसी को राम ‘अंतरजामिहु ते बड़ बाहरजामी’ लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं; जैसे, गृहधर्म, कुल-धर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्ण धर्म। किसी परिमित

वर्ग के कल्याण से संबंध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से संबंध रखनेवाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुल-धर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्ण धर्म, जिसका संबंध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म पर दृष्टि रखनेवाला लोक या समस्त मनुष्य-जाति की रक्षा देखकर आनंद का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान् पूर्ण धर्मस्वरूप है। अतः वे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनंद प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनंद भी उच्च कोटि का होता है।

धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियाँ ऊपर कही गई हैं, वे उसके स्वरूप के संबंध में; उसके पालन के स्वरूप के संबंध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यंत साधारण कोटि का हो सकता है; इसी प्रकार निम्न भूमि के धर्म का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटनेवाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं; अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चंदा न देनेवाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिये प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह दिखा चुके हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति

और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। राम के लीलाक्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नामरूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान् की इस स्थितिविधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमाकर, बाह्य जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके आँख मूँदें अपने अंतःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूँढ़ा करते हैं उनके मार्ग से गोस्वामीजी का भक्तिमार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़कर, धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब वही भवत धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से— खुली हुई आँखों के सामने से— ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अधकार फाड़कर धर्मज्योति फूट पड़ती है तब मानो उनके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है। अतः मोक्ष का— विसी दंग के मोक्ष का— मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है। साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रखे, धर्म और उपासना को अंग रूप में लेकर चले; कोई भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अंगरूप में रखकर चले। तुलसीदासजी भक्ति प्रधान रखकर चलनेवाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति-भावना में

यद्यपि तीनों का योग है, पर धर्म का योग पूर्ण परिमाण में है। धर्म-भावना का उनकी भक्ति-भावना से नित्य संबंध है।

रामचरितमानस में धर्म की ऊँची-नीची विविध भूमियों की झोंकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं-कहीं कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। उदाहरण के लिये भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य दीप्ति से हमारा हृदय जग-मगा उठता है, उन्हीं को अपनी माता को चुन-चुनकर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग संदेह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे उन्होंने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उत्प्लंघन कैसे कराया? धर्म की विविध भूमियों के संबंध में जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आए हैं उनपर दृष्टि रखकर यदि समझा जाय तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आए हैं कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के सुख-दुःख से संबंध रखनेवाला होगा उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जायगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्मस्वरूप है क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं उसे धर्म प्रिय नहीं, इसी से गोस्वामीजी कहते हैं—

जाकें प्रिय न राम बैदेही।

सो नर तजिअ कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सतेही॥

इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो जाती है, वशरथ प्राणत्याग करते हैं। भरत कोई संसारत्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी

क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिये उसे पी जाते । यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उनके राम-प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का उनकी मनोवृत्तियों के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता ? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जायगा ? भरत धर्म-स्वरूप भगवान् रामचंद्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गए हैं । अतः काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष के द्वारा उनके प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना एक विशेष लक्ष्य रखती है । महाकाव्य या खंड-काव्य के भीतर जहाँ धर्म पर क्रूर और निष्ठुर आघात सामने आता है वहाँ श्रोता या पाठक का हृदय अन्यायी का उचित दंड—धिगदंड के रूप में सही—देखने के लिये छटपटाता है । यदि कथा-वस्तु के भीतर उसे दंड देनेवाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है । इसके लिये भरत से बढ़कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकता था ? जिन भरत के लिये ही कैकेयी ने सारा अनर्थ खड़ा किया, वे ही जब उसे धिक्कारते हैं, तब कैकेयी की कितनी आत्मग्लानि हुई होगी ! ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था । इस दर्जे की आत्मग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नहीं की जा सकती थी ।

सारांश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिये किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं । काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न श्लोभ की अबाध व्यंजना के लिये मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है ।

अब विभीषण को लीजिए, जिसे गृहनीति या कुलधर्म की स्थूल और संकुचित दृष्टि से लोग 'घर का भेदिया' या आतुद्रोही कह सकते हैं । तुलसीदासजी ने उसे भगवद्भक्त के रूप में लिया है । उसे भक्तों की श्रेणी

में दाखिल करते समय गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुलधर्म की संकुचित सीमा के भीतर बँधी न रहकर व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की ओर थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोकपीडक है, उसके अत्याचार से तीनों लोक व्याकुल हैं, उसके अनुयायी राक्षस अकारण लोगों को सताते हैं और ऋषियों-मुनियों का वध करते हैं। विभीषण इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होकर भी लंका के एक कोने में साधु-जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय में अखिल लोकरक्षक भगवान् की भक्ति है।

सीताहरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँचा दिखाई पड़ता है। हनुमान् से भेंट होने पर उसे धर्मस्वरूप भगवान् के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसकी उच्च धर्म-भावना और भी जग पड़ती है। वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता, तब उसके सामने दो धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृहधर्म या कुलधर्म के पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन का। भक्त की भावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है। अतः वह लोक-कल्याण-विधायक धर्म का अवलंबन करता है और धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है।